

दैवी सम्पद्

"दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।"
अर्थ—दैवी सम्पद् से मोक्ष और आसुरी से बन्धन होता है।

लेखक—
रावबहादुर सेठ गोवर्द्धनदास जी मोहता,
ओ० बी० ई०
के
आत्मज
श्री० रामगोपाल जी मोहता, बीकानेर

प्रकाशक—
'चाँद' कार्यालय, चन्द्रलोक,
इलाहाबाद

अक्टूबर, १९३०

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य २॥)

FIRST EDITION

One Thousand Copies

Printed and Published

by

R SAIGAL

at

The Fine Art Printing Cottage

28 Edmonstone Road

Allahabad

November

1930

उपहार

पाठक-पाठिकाओं की सेवा में नम्र निवेदन

पुस्तक में निम्न-लिखित स्थलों की इबारत छपने में कुछ गलती रह गई है, उनको इस तरह सुधार कर पढ़ने की कृपा करें —

पृष्ठ—११ में हेडिङ्ग की इबारत "स्वतन्त्रता स्वाभाविक है और एकता के आधार पर साम्यभाव से व्यवहार करने से वह स्वत प्राप्त होती है" के स्थान में "स्वतन्त्रता स्वाभाविक है और एकता के आधार पर साम्यभाव से व्यवहार करने से वह स्वत प्राप्त है" पढ़ें।

पृष्ठ—२२ में सबसे नीचे की दो लाइनें छोड़ कर उनके ऊपर की चार लाइनों की इबारत इस प्रकार पढ़ें —

"समष्टि-आत्मा = परमात्मा की प्रकृति के इस (संसार-रूपी) खेल में चाहे गृहस्थी के सॉंगमें—उसके योग्य व्यवहार किए जायँ—अथवा सन्यासी के सॉंग में—उसके योग्य व्यवहार किए जायँ—दोनों ही कल्पित स्वॉंग हैं और"

पृष्ठ—३० की पाँचवीं एवं छठी लाइनें इस तरह पढ़ें—

"अर्थात् समष्टि उत्पादन शक्ति से अन्न (भोग्य

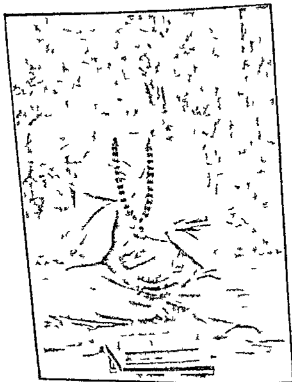
होते हैं, यज्ञ से समष्टि उत्पादन शक्ति होती है और यज्ञ, कर्म से अर्थात् सबके अपने"

पृष्ठ—२४ में नीचे से ऊपर की चौथी लाइन इस तरह पढ़ें—"व्यक्ति दूसरों का उपभोग करते हैं, उन्हें दूसरों के उपभोग"

पृष्ठ—५१ में चौथी लाइन के अन्तिम चार शब्द इस तरह पढ़ें—"इसके लिए दूसरों" और सातवीं लाइन के आरम्भ के दो शब्द इस तरह पढ़ें—"दायरा यद्यपि।"

इनके अतिरिक्त पुस्तक में जहाँ-जहाँ प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गई हैं उनको सुधार कर पढ़ने की कृपा करें और उपरोक्त अशुद्धियों के लिए क्षमा करें।





महात्मा स्वामी जी श्री उत्तमनाथ जी महाराज

इन्हीं महात्मा जी के अनुग्रह से लेखक महोदय को अध्यात्म विषय का आंशिक बोध हुआ है।

प्रस्तावना



तन्त्रता के लिए आजकल सभ्य जगत में प्रायः सर्वत्र ही असाधारण संघर्ष एवं विप्लव मच रहा है । अनेक प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक बन्धनों से लोग इतने तङ्ग आ गए हैं कि उनसे छुटकारा पाने के लिए बड़े ही आतुर प्रतीत होते हैं । कहीं पर धार्मिक अन्ध विश्वासों और धर्म-गुरुओं के पाश से छुटकारा पाने के लिए विप्लव मचा हुआ है और खून ख़राबियाँ होती हैं, कहीं राजनैतिक ग़ुलामी की ज़ञ्जीरों को तोड़ फेंकने के लिए अनन्त प्रकार के कष्ट उठाए जा रहे हैं और असंख्य प्राणों की आहुतियाँ दी जाती हैं, कहीं सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष की आग धधक रही है और कहीं आर्थिक दासता दूर करने के लिए परस्पर में घोर संग्राम हो रहा है। इतना सब कुछ होने पर भी सच्ची स्वतन्त्रता अब तक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि कोई जाति अथवा कोई देश किसी विशेष प्रकार के बन्धन से छुटकारा पाता है तो साथ ही साथ, उसी समय अन्य किसी प्रकार के बन्धन से बँध जाता है, क्योंकि सच्ची स्वतन्त्रता का वास्तविक रहस्य जाने बिना उसके लिए यथोचित उपाय नहीं किया

जाता। किसी ख़ास विषय में (अरथाई) भौतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना मात्र ही सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु यह बात अवश्य है कि जिन लोगों में स्वतन्त्रता के भाव जाग्रत हो जाते हैं, उनमें दासता की मनोवृत्ति कम हो जाती है, फलत पराधीनता के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

अन्य देशवासियों की तरह भारतवासियों में भी स्वतन्त्रता के लिए कुछ आतुरता उत्पन्न हुई है, परन्तु वह आतुरता अब तक केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता तक ही परिमित है। जिन कारणों से यहाँ के लोग राजनैतिक परतन्त्रता में फँसे तथा जिन कारणों से यह अब तक बनी हुई है अर्थात् जो—अनैक्य उत्पन्न करने वाले—मढ़े हुए धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक बन्धन और आर्थिक परावलम्बन, राजनैतिक परतन्त्रता के कारण हैं, उनको दूर करने का समुचित उपाय अब तक कुछ भी नहीं किया जा रहा है, अत भारतवासी सब प्रकार के बन्धनों की बेड़ियों में ज्यों के त्यों मज़बूती से जकड़े हुए हैं। क्या आर्थिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मिक और क्या राजनैतिक—किसी भी तरफ़ दृष्टि डालें—भारतवर्ष में सर्वत्र पराधीनता ही पराधीनता का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है।

जीवन निर्वाह के लिए अर्थोपार्जन करने में यहाँ के लोगों में स्वावलम्बन का प्राय अभाव है। मज़दूरी, नौकरी, व्यवसाय आदि अर्थोपार्जन के जितने साधन हैं, उनके लिए हम लोग दूसरों पर निर्भर हैं—अपने आप कुछ नहीं कर सकते। यदि किसी व्यक्ति पर निर्भर न भी रहें—तो प्रारब्ध, ग्रह नक्षत्र, भूत प्रेत, देवी देवता एव पीर-पैग़म्बर आदि का आश्रय अवश्य लेते हैं और इन सब से

बद कर ईश्वर पर अपना सारा बोझ लाद कर पूरे परावलम्बी बने रहते हैं।

सामाजिक व्यवहारों में, सामाजिक मर्यादाओं की प्राचीन पुस्तकों (धमशास्त्रों) और प्रचलित रूढ़ियों के ग़ुलाम बने हुए हैं। किसी भी सामाजिक व्यवहार में, इन पुस्तकों की मर्यादाओं और रूढ़ियों से विरोध का भ्रम हुआ कि "हम दीन दुनिया से गए" ऐसा भय रहता है और समाज के नेताओं, पञ्चों और जाति भाइयो के बहिष्कार के आतङ्क से सदा दबे रहते हैं।

अपनी आत्मिक उन्नति के लिए हम लोग धम और ईश्वर के ठेकेदार—आचार्यों और धर्म-गुरुओं के सर्वथा अधीन रहते हैं, जिससे हमारे आत्मबल का नितान्त ही ह्रास हो गया है। छोटी से लेकर बड़ी तक उन लोगों के गिरवी रखे हुए हैं यानी उनके क़ब्ज़े में हैं। हमारा कोई व्यवहार ऐसा नहीं, जो उनकी स्वीकृति के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक हम लोग कर सकें। अपना पारलौकिक कल्याण भी हम उन्हीं की दया पर निर्भर मानते हैं। उनकी कृपा के बिना हम अपने परमात्मा की प्राप्ति भी कर नहीं सकते।

इस तरह की पराधीनता की मनोवृत्ति राजनैतिक स्वतन्त्रता कैसे क़ायम रख सकती थी? अस्तु, जिन लोगों की मनोवृत्ति स्वाधीनता को अपनाए हुए थी अर्थात् जिनके बन्धन हमसे कम और ढीले थे, उन्होंने हमारी राजनैतिक स्वतन्त्रता छीन कर इस क्षेत्र में भी हमें पूरा पराधीन बना दिया। इस समय हम लोग स्वय अपने स्वार्थों की रक्षा करने में नितान्त ही असमर्थ हैं—यहाँ तक कि छोटी से छोटी बात के लिए भी हर तरह से विदेशी और विधर्मी

लोगों की दया के भिखारी हैं। परावलम्बन के भाव हममें यहाँ तक चढ़े हुए हैं कि अपनी भलाई के लिए तो दूसरों पर निर्भर रहते ही हैं, किन्तु अपनी बुराइयों के दोष भी दूसरों पर ही मढ़ते हैं। सारांश यह कि अपने लिए अच्छा या बुरा कुछ भी स्वतन्त्रता पूर्वक करने के लिए हम लोग अपने आपको योग्य नहीं समझते।

अब देखना चाहिए कि हमारी इतनी पराधीनता का मूल-कारण क्या है? कई लोग हमारे जाति पाँति के भेद भाव, कई नाना पन्थ और नाना सम्प्रदायों के झगड़े, कई वर्ण आश्रम की मर्यादाओं का नष्ट हो जाना कई ब्राह्मण जाति के अत्याचार, कई धार्मिक अन्धविश्वास, कई स्त्रियों एवं अन्त्यजों की पद दलित अवस्था कई आपस की अनेकता, कई बाल विवाहादि सामाजिक कुप्रथाओं के कारण बल वीर्य का ह्रास होना और कई कलियुग का आगमन आदि—अनेक कारण हमारी पराधीनता के बताते हैं, परन्तु गहरा विचार करने से इसका एकमात्र कारण यही निश्चय होता है कि हम लोगों ने "दैवी सम्पद्"—अर्थात् अखिल विश्व में सर्वत्र एकात्म भाव के निश्चयपूर्वक सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त व्यवहार करना—छोड़ कर "आसुरी सम्पद्" को अपना लिया अर्थात् हम सबने अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ में ही आसक्ति कर ली। यही हमारे पतन के अनेक कारणों का एक मूल कारण है। इसी से अन्य सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं और जब तक इस मूल कारण का समुचित उपाय नहीं किया जायगा, तब तक हमारी

पराधीनताओं एवं दुःखों का कभी अन्त नहीं होगा—यदि एक मिटेगी तो दूसरी उत्पन्न हो जायगी। जब तक रोग का मूल कारण नहीं मिटता तब तक एक उपद्रव शान्त होता है तो दूसरा उठता रहता है। एकाङ्गी उपायों से वास्तविक रोग की निवृत्ति कभी नहीं होती।

इस पुस्तक के टाइटिल पेज पर जो गीता का श्लोक है, उसका आशय यह है कि "दैवी सम्पद्" मोक्ष अर्थात् स्वाधीनता का कारण है और "आसुरी" बन्धन अर्थात् पराधीनता का। उक्त भगवद्वाक्य के अनुसार, पराधीनता से पीछा छुड़ा कर स्वाधीन होने के लिए "आसुरी सम्पद्" छोड़ कर "दैवी सम्पद्" धारण करना एकमात्र उपाय है और इसी का निरूपण करना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

इस स्थान पर यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि यहाँ "मोक्ष" शब्द का प्रयोग, मरने के बाद पापों से छूट कर "मुक्ति" प्राप्त करने मात्र के सङ्कुचित अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु इहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के बन्धनों से—चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या राजनैतिक और चाहे वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के फल-स्वरूप हों या दूसरों के—यहीं पर छुटकारा पाने अर्थात् पूरे स्वाधीन एवं जीवन मुक्त होने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अतः इस पुस्तक में मोक्ष, मुक्ति, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता अथवा छुटकारा आदि शब्द जहाँ आए हैं, वहाँ उनका यही व्यापक अर्थ समझना चाहिए।

जहाँ अन्य देशों के लोग उक्त सच्ची स्वतन्त्रता (जीवन-मुक्ति) के असली रहस्य एवं उसकी प्राप्ति के वास्तविक उपाय

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
—गी० अ० ३.१६

अर्थ—यज्ञ के लिए अर्थात् संसार चक्र को अच्छी तरह चलाने के लिए किए जाने वाले कर्त्तव्य कर्मों के अतिरिक्त केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए जो कर्म किए जाते हैं उनसे ही ये लोग बँधते हैं। तू उपरोक्त यज्ञ के निमित्त—उनमें दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर—कर्म करता रह।

प्रारम्भ में यज्ञ चक्र के साथ ही प्रजा को रच कर प्रजापति ब्रह्मा ने उनसे कहा कि इस यज्ञ चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे। यह यज्ञ चक्र तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् यह यज्ञ चक्र ही तुम्हारी सब आवश्यकताओं को पूरी करेगा।

तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करें अर्थात् तुम अपने अपने हिस्से के कर्त्तव्य कर्म करने द्वारा समष्टि आत्मा = परमात्मा का माया रचित इस जगत रूपी उसके विराट् शरीर को धारण करने वाली उसकी सूक्ष्म दैवी शक्तियों (विभूतियों)—जो समष्टि रूप से जगत के सब कार्य कर रही हैं—के साथ अपनी अपनी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों का योग दो और तुम्हारी सबकी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों के योग से पूरित हुई वे परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ तुम सबकी आव ... पूरी करें। इस तरह सबके साथ ताल बद्ध होकर

…वहार करने द्वारा परस्पर में एक दूसरे को योग देते हुए और …क दूसरे की आवश्यकताओं को पूरी करते हुए परम श्रेय को …प्राप्त होवो अर्थात् सबके साथ ताल-बद्ध होकर अपने अपने हिस्से का काम बराबर करते रहने ही से संसार का व्यवहार यथावत् चलता रहेगा, जिससे सबको अपनी अपनी आवश्यक भोग्य सामग्री मिलती रहेगी।

यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे अर्थात् अपने अपने हिस्से के कर्त्तव्य कर्म अच्छी तरह पालन करने से जगत रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ पोषित होकर लोगों के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करेंगी। परन्तु उन्हीं का दिया हुआ पीछा उन्हें दिए बिना जो व्यक्ति सब भोग्य पदार्थ केवल आप ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है अर्थात् संसार के समस्त भोग्य पदार्थ सबकी समष्टि (सम्मिलित) शक्ति से उत्पन्न होते हैं, उन सार्वजनिक पदार्थों को जो अकेला ही अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के उपयोग में लेकर दूसरों को उनसे वञ्चित रखता है वह सबकी चोरी करता है।

यज्ञ से बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जो सज्जन (स्त्री हो या पुरुष) संसार यज्ञ में अपने कर्त्तव्य कर्म अच्छी तरह पालन करके उनसे प्राप्त होने वाले पदार्थों को, यथायोग्य दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए, आप भी अपनी आवश्यकतानुसार भोगते हैं उनको (चोरी आदि का) पाप नहीं लगता। परन्तु जो दूसरों की

आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपने लिए ही पकाते हैं अर्थात् जो केवल अपने व्यक्तिगत शरीर के विषयों की तृप्ति के लिए ही कर्म करते हैं, वे पाप भोगते हैं।

अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत प्राणी होते हैं। पर्जन्य अर्थात् समष्टि उत्पादन शक्तियों से अन्न (भोग्य पदार्थ) होते हैं, यज्ञ से समष्टि शक्ति होती है और यज्ञ-कर्म से अर्थात् सबके अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है।

कर्म प्रकृति से और प्रकृति, अविनाशी समष्टि आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान। इसलिए सर्व-व्यापक आत्मा=परमात्मा ही यज्ञ में अर्थात् संसार चक्र को चलाने में स्थित है।

इस तरह जगत के धारणार्थ प्रवृत किए हुए इस चक्र, यानी यज्ञ-चक्र के अनुसार जो नहीं बर्तता अर्थात् जो इस संसार के खेल में अपने व्यक्तित्व की और व्यक्तिगत स्वार्थों की सबसे एकता करके अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता, उसका जीवन पाप रूप है और उस इन्द्रिय लम्पट का अर्थात् केवल अपने व्यक्तिगत भौतिक शरीर के विषय भोगों के लिए ही उद्योग करने वाले का, जीना फ़िजूल है यानी उसका मनुष्य (स्त्री या पुरुष का) शरीर व्यर्थ है।

गीता के उपरोक्त श्लोकों का भावार्थ यह है कि चतुर्विध समष्टि अन्त करण रूपी चतुर्मुख ब्रह्मा के सङ्कल्प से, सब लोगों की—उनके कर्त्तव्यों सहित—रचना होकर, प्रेरणा हुई कि अपने अपने कर्त्तव्य यथावत् करते रहने से सबकी इच्छाएँ पूरी होकर सबकी वृद्धि होती रहेगी, क्योंकि समष्टि-

आत्मा=परमात्मा की दैवी शक्तियाँ जो सूक्ष्म रूप से सब में व्याप्त हैं और जो समष्टि भाव से जगत रूप बनी हुई हैं, वे व्यष्टि भाव से प्रत्येक व्यक्ति में रहती हैं और उनसे ही व्यष्टि व्यवहार होता है और उन व्यष्टि व्यवहारों का सम्मिलित योग ही समष्टि व्यवहार है जिससे सारे जगत का सञ्चालन होता है। इसलिए सबके अपने अपने हिस्से के कर्त्तव्य-कर्म यथावत् करने रूपी व्यवहार के योग से ही जगत का समष्टि व्यवहार यथावत् चल सकता है और समष्टि व्यवहार यथावत् चलने ही से व्यक्तियों की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

यज्ञ और देवताओं का खुलासा

यज्ञ और देवताओं की जो व्याख्या ऊपर की गई है वह साधारण लोगों की समझ में शायद ठीक प्रतीत न हो, क्योंकि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ अधिकतर लोग वैदिक कर्म-काण्ड के "हवन" (अग्नि मे पदार्थों की आहुति देने) का करते हैं। परन्तु गीता में प्रतिपादित यज्ञ का यह अर्थ नहीं है। अनेकता के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किए जाने वाले वैदिक कर्म-काण्ड का तो गीता के दूसरे अध्याय श्लोक ४२ से ५३ तक मे भगवान् ने साफ शब्दों में निषेध कर दिया है, अत आरम्भ में ही जिस विषय का निषेध कर दिया उसी का पुन विधान किस

तरह हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ "यज्ञ" शब्द का अर्थ हवन ही माना जावे तो तीसरे अध्याय के नवम् श्लोक के अनुसार हवन के सिवाय अन्य—पठन, पाठन, प्रजारक्षण, कृषि, गौरक्ष, वाणिज्य, सेवा, दान, परोपकार आदि के निमित्त किए जाने वाले सभी कर्म बन्धन के हेतु हो जावेंगे, जिनके बिना हवन तो क्या, ससार में किसी का जीवित रहना भी असम्भव हो जायगा, और जगत का विनाश भगवान् को अभिप्रेत नहीं है (देखो गी० अ० ३श्लो०२४)। इसके अतिरिक्त, उस समय अर्जुन को यह उपदेश देने का अवसर भी नहीं था कि "हवन के लिए तू कर्म कर" क्योंकि यहाँ तो उसको क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करके अपने कर्त्तव्य पालन करने के उपदेश का प्रसङ्ग था। अत यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ हवन नहीं हो सकता, किन्तु लोक-समह अर्थात् ससार चक्र को भली भाँति चलाने में अपना पार्ट पूरी तरह बजाना ही यज्ञ का एक मात्र ठीक ठीक अर्थ हो सकता है। तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोक के अन्त मे भगवान् ने " यज्ञ कर्म समुद्भव ।" कह कर यह अर्थ स्पष्ट भी कर दिया है।

इसी तरह "देवता" शब्द का अर्थ भी अधिकतर लोग स्वर्गादि लोकों में बैठे हुए इन्द्रादि देवता समझे हुए हैं। परन्तु तात्विक दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो यह अर्थ स्थूल बुद्धि के साधारण लोगों को समझाने के लिए जगत

को धारण करने वाली समष्टि-आत्मा = परमात्मा की समष्टि-सूक्ष्म दैवी शक्तियों का स्थूल रूपक बाँध कर किया गया है। परन्तु जहाँ दर्शनशास्त्रों का तात्विक विचार करना होता है वहाँ इन रूपकों को ही सत्य मान लेने से सच्चा तथ्य समझ में नहीं आ सकता और वास्तविक सच्ची स्थिति समझे बिना सशयात्मक दशा में जगत के व्यवहार भी ठीक-ठीक नहीं किए जा सकते। यदि समष्टि आत्मा = परमात्मा के इस जगत रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली उसकी समष्टि दैवी शक्तियाँ किसी एक ही स्थान में सीमाबद्ध होकर बैठ जायँ तो वहाँ बैठी हुई वे इस बृहत् ब्रह्माण्ड का सञ्चालन ही कैसे कर सकेंगी? और इन देवताओं को परमात्मा की दैवी शक्तियों से भिन्न कोई और पदार्थ मान नहीं सकते, क्योंकि एक के अतिरिक्त दूसरा कुछ है नहीं। यदि मान भी लें तो सुदूर लोकों में बैठे हुए भिन्न भिन्न देवताओं को इस लोक में आकर यहाँ के लोगों से भोग्य पदार्थ लेने का क्या अधिकार है और क्या उनको पीड़ा देने का प्रयोजन है? तथा यहाँ के लोगों को उन दूसरे लोकों में बैठे हुए देवताओं को मान कर उनको सन्तुष्ट करने और उनसे सट्टा भुगताने की आवश्यकता ही क्या है? गीता में स्पष्ट कहा है कि वे देवता तुमको अपने इष्ट पदार्थ देंगे। अत यदि ... समष्टि आत्मा = परमात्मा की दैवी शक्तियों से ...र्थ होते तो लोगों को इष्ट पदार्थ देने की उनमें

योग्यता कहाँ से आता । इससे यही सिद्ध होता है कि इस जगत-रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली समष्टि-आत्मा = परमात्मा की समष्टि-दैवी शक्तियाँ ही देवता हैं और वे ही सूक्ष्म शक्तियाँ व्यष्टि रूप से प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में हैं और इन व्यष्टि शक्तियों का समष्टि शक्तियों के साथ सहयोग अर्थात् एकतायुक्त व्यवहार करना ही यज्ञ है ।

सब भूत प्राणी इस ससार रूपी यज्ञ चक्र (विराट पहिए) के अङ्ग (पुरजे) हैं और जैसे किसी मशीन के एक पुरजे के भी निकम्मे हो जाने से उस मशीन के काम में त्रुटि आ जाती है, उसी तरह इस ससार-चक्र मे एक भी प्राणी के कर्त्तव्य पालन न करने से उसमें उतनी ही त्रुटि आ जाती है और उस त्रुटि से सबको कष्ट होता है तथा उस कष्ट के दोष का भागी अपना कर्त्तव्य पालन न करने वाला प्राणी होता है ।

ससार में जितने सचेतन और जड़ पदार्थ हैं वे सब परस्पर में एक दूसरे के उपकार्य-उपकारक अथवा भोक्ता-भोग्य (एक दूसरे के उपयोग में आने वाले) हैं एवं अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले) हैं । जो व्यक्ति दूसरों का उपभोग करते हैं तो उन्हें दूसरे के उपभोग मे आना आवश्यक है । यदि वे अपने लिए तो पदार्थों का उपभोग करते रहें और स्वय उनके उपभोग में आना न चाहें अर्थात् दूसरों से तो कार्य करवाते रहें और स्वय

पने हिस्से के कर्त्तव्य कर्म न करें तो यह समष्टि आत्मा=
रमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियों की चोरी है।

ऐसे तामसी अहङ्कार वाले कर्त्तव्य के चोरों से समष्टि-
आत्मा=परमात्मा की माया (प्रकृति) जबरदस्ती कर्म
करवाती है और साथ में उनके पाप का दण्ड भी देती है।
क्रिया की प्रतिक्रिया (Action का Reaction) होना
अनिवार्य है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

—गी० अ० १८ ५९

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

—गी० अ० १८ ६०

अर्थ—तू जो अपने व्यक्तित्व के तामसी अहङ्कार से यह मानता है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा", सो तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। क्योंकि प्रकृति अर्थात् तेरा स्वभाव ही तुझसे यह करायेगा।

हे कौन्तेय! मोह अर्थात् तामसी अहङ्कार के वश होकर तू जिसे न करने की इच्छा करता है उसे ही तुझे—स्वयं अपने (आत्मा के) स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म (प्रकृति) से बद्ध होने के कारण—पराधीन होकर अर्थात् अपनी स्वभाव जन्य प्रकृति के अधीन होकर करना पड़ेगा।

स्वामी भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने चाहिए

यह जगत, आत्मा के स्वभाव ही से उत्पन्न होने वाली प्रकृति (माया) का खेल है और प्रत्येक व्यक्ति उस (समष्टि) आत्मा का अंश है, अतः स्वयं अपने रचे हुए (जगत रूपी) कार्य को—उसके स्वामी भाव से—अवश्य चलाना चाहिए। इस तरह चलाने से कोई बन्धन या दुःख प्रतीत नहीं होता। परन्तु स्थूल शरीर में ही अहंभाव के तामसी अहङ्कार के वश होकर यदि स्वयं अपने रचित कार्य को—अपने ही राजस-तामस भावों से—दुःख रूप या बन्धन रूप मान कर उससे अलग होने की चेष्टा की जाय अथवा उसकी उपेक्षा करके उसे बिगाड़ दिया जाय तो अपने ही भावों से वह दुःख और बन्धन रूप हो जाता है जिससे छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है। इसलिए इस जगत रूपी स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य में अपने आपको उस राष्ट्र का एक मेम्बर (अङ्ग) समझ कर, स्वयं अपने जिम्मे ली हुई ड्यूटी को—उसका स्वामी होकर—स्वतन्त्रतापूर्वक अच्छी तरह बजाना चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

—गी० अ० २ ४७

अर्थ—कर्म में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं, फल अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए तू कर्म मत कर और कर्म न

करने की व्यक्तिगत अहङ्कार की आसक्ति भी मत रख। अर्थात् कर्म रूप जगत सब तेरे ही समष्टि भाव की प्रकृति का खेल होने से उस पर तेरा अधिकार है यानी तू इसका अधिपति है। परन्तु इस खेल से उत्पन्न होने वाले नाना भाँति के कल्पित सुख-दु खादि द्वन्द्वों का कुछ भी प्रभाव तुझ पर नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि यह सब तेरी ही रचना है, अत इन पर कुछ भी लक्ष्य मत रख और इन नाना भाँति के कल्पित सुख दु खादि द्वन्द्वों से व्याकुल होकर अपने इस खेल को छोड़ कर बिगाड़ देना भी तेरी महिमा के प्रतिकूल है। सारांश यह कि तू अपनी प्रकृति (माया) के इस खेल में द्वैत भाव की आसक्ति छोड़, जगत के अधिपति रूप से कार्य्य करता रह।

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—गी० अ० २ ४८

अर्थ—"मैं करता हूँ, मेरे कर्म हैं, अमुक कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा"—इस तरह के व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ का भाव छोड़ कर, कर्म की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता हुआ, योगयुक्त होकर अर्थात् सर्वात्म साम्य भाव में जुड़ कर कर्म कर—साम्य भाव ही योग है।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र का मेम्बर सर्वथा स्वतन्त्र रहता हुआ अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करता है और यदि वह अपना कर्त्तव्य उचित रीति से पालन न करे तथा दूसरों के स्वत्वों को हानि पहुँचावे

माणिक, मोती आदि क़ीमती वस्तुओं की तरह—चाहे धन-कुबेर एवं राजा-बादशाह ही क्यों न हों अथवा विद्वान् पण्डित, साम्प्रदायिक आचार्य्य या यति सन्यासी ही क्यों न हों, वे हैं खनिज वर्ग के ही। इन लोगों को लट्टू की उपमा दी जा सकती है, जो अपने शरीर के इर्द गिर्द ही चक्कर काटता रहता है। ये लोग अपने शरीर के रूप, यौवन, बल, बुद्धि, विद्या, ज्ञान, चतुराई, मान, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, बड़प्पन, पवित्रता, कुलीनता एवं धार्मिकता आदि का बड़ा घमण्ड रखते हैं और इन उपाधियों के घमण्ड में बहुत ही सङ्कीर्ण शारीरिक नियमों का पालन करके दूसरे लोगों का तिरस्कार करते तथा कष्ट देते हैं और स्वय भी दूसरों से तिरस्कृत होकर कष्ट पाते हैं। शरीर में अत्यन्त आसक्ति रख कर ये लोग अपने लिए इतने बन्धन और रोगादि उत्पन्न कर लेते हैं कि दूसरों के अधीन होकर अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं शारीरिक सुखों से वञ्चित हो जाते हैं। यदि वे लोग पारलौकिक सुखों की इच्छा करते हैं तो वह भी केवल अपने व्यक्तित्व के लिए ही।

(२) दूसरी श्रेणी के लोग वनस्पति वर्ग के कहे जा सकते हैं। पहिली श्रेणी वालों से इनमें कुछ अधिक आत्म-विकाश होता है और इनका दायरा (कार्यक्षेत्र) कुछ विस्तृत होकर अपने कुटुम्ब तक परिमित रहता है। इन लोगों को अपने शरीर और कुटुम्ब के सिवाय और कुछ भी कर्त्तव्य

नहीं रहता। ये लोग अपने शरीर के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब के आधिभौतिक सुखों के लिए भी दौड़-धूप करते रहते हैं और उनके स्वार्थों के लिए दूसरों को हानि पहुँचाने में कुछ भी आना कानी नहीं करते। इन्हें कोल्हू के बैल की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह कोल्हू के बैल का दायरा यद्यपि लट्टू से विस्तृत होता है, परन्तु वह कोल्हू के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है, उसी तरह कुटुम्ब-पालक का दायरा यद्यपि पेट-पालू से बड़ा होता है, परन्तु है वह अपने कुटुम्ब तक ही परिमित। ये लोग अपने कुटुम्ब के धन-बल, जन-बल, मान, प्रतिष्ठा, उच्चता, कुलीनता एव पवित्रता आदि का बहुत घमण्ड करते हैं और इन बातों के अहङ्कार से दूसरों के साथ घृणा करने, दूसरों को नीचा दिखाने तथा कष्ट देने वाली अत्यन्त सङ्कुचित कौटुम्बिक व्यवस्थाएँ बाँध कर उनका कट्टरता से आचरण करके स्वय कष्ट उठाते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। इस तरह अपने कुटुम्ब ही में आसक्ति रखने वाले लोग इन कौटुम्बिक मर्य्यादाओं से बँधे हुए दूसरे कुटुम्ब वालों से सदा सशङ्कित और कौटुम्बिक परतन्त्रताओं में जकड़े हुए रहते हैं।

(३) तीसरी श्रेणी के लोग पशु-वर्ग के हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय श्रेणी वालों से कुछ अधिक आत्म-विकाश होता है और इनका दायरा (कार्य्यक्षेत्र) अपनी जाति या समाज तक परिमित होता है। ये लोग अपने शरीर, कुटुम्ब और

जाति या समाज को ही सब कुछ मानते हैं, इनके सिवाय दूसरों से इनका कोई ममत्व नहीं रहता। इनके स्वार्थों के लिए दूसरों को हानि या कष्ट पहुँचाना ये लोग नीति सम्मत मानते हैं। इन समाज सेवियों को घुड़दौड़ के घोड़े की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार घुड़दौड़ के घोड़े का दायरा (कार्यक्षेत्र) यद्यपि टट्टू और कोल्हू के बैल से बड़ा होता है, परन्तु वह घुड़दौड़ के मैदान के इर्द गिर्द ही चक्कर काटता रहता है, उसी प्रकार इन समाज सेवियों का दायरा यद्यपि पेटू पालू और कुटुम्ब-पालक से बड़ा होता है, परन्तु है वह समाज सेवा तक ही सीमा-बद्ध। ये लोग अपनी जाति या समाज के धन बल, जन बल, मान, प्रतिष्ठा, पवित्रता, कुलीनता एवं सामाजिक मर्य्यादाओं की धार्मिकता आदि का बहुत घमण्ड करते हैं और इन बातों के अहङ्कार से दूसरे समाज के लोगों के साथ घृणा करने, दूसरों को नीचा दिखाने तथा कष्ट देने वाली अत्यन्त सङ्कीर्ण सामाजिक मर्य्यादाओं की व्यवस्थाएँ बाँध कर उनका कट्टरता से आचरण करके स्वयं कष्ट उठाते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। इस तरह अपने समाज ही में आसक्ति रखने वाले ये लोग सामाजिक मर्य्यादाओं से बँधे हुए, दूसरे समाज वालों से सदा सशङ्कित एवं सामाजिक परतन्त्रताओं से जकड़े हुए रहते हैं।

(४) चौथी श्रेणी के लोग मनुष्य प्रकृति के हैं। इनमें

प्रथम तीन श्रेणियों से अधिक आत्म विकाश होता है, अत ये उनसे उच्च कोटि के हैं। इनका दायरा (कार्य-क्षेत्र) अपने देश तक परिमित होता है अर्थात् अपने देश ही को ये लोग सब कुछ मानते हुए, देश के लिए दूसरों को कष्ट देना और हानि पहुँचाना सर्वथा न्याय समझते हैं। इनको चन्द्रमा की उपमा दी जा सकती है। चन्द्रमा का यद्यपि दायरा लट्टू, कोल्हू के बैल और घुड़दौड़ के घोड़े से बहुत ही अधिक विस्तृत है, परन्तु वह पृथ्वी के इर्द गिर्द ही चक्कर काटता रहता है। इसी तरह देशभक्तों का दायरा यद्यपि पहिले तीनों से बड़ा होता है परन्तु अपने देश तक ही परिमित रहता है। अपना देश दूसरों से अधिक धन, जन एव शक्ति सम्पन्न, उन्नत, पवित्र, प्रतिष्ठित एव धार्मिक होने का घमण्ड करके ये लोग दूसरे देशवासियो का तिरस्कार करते हैं, उनको दबाते और उनके साथ ईर्षा करते हैं। इस तरह अपने देश ही मे आसक्ति रखने वाले लोग दूसरे देशवासियों से दबे हुए और उनके अधीन रहते हैं।

(५) पाँचवीं श्रेणी के लोग मनुष्य कोटि से ऊँचे, देव कोटि के होते हैं। इनका आत्म-विकाश सबसे अधिक होता है और इनकी बुद्धि महान् हो जाती है। इनका (कार्यक्षेत्र) बेहद अर्थात् सम्पूर्ण विश्व तक फैला हुआ होता है। इनकी किसी व्यक्ति, समुदाय या देश विशेष ही मे ममत्व की आसक्ति नहीं रहती, किन्तु समस्त भूत प्राणियों

सतोगुण इतना बढ़ा हुआ रहता है कि किसी शरीर विशेष ही में उनकी आसक्ति नहीं होती, अत व्यक्तिगत शरीरों के प्रति उनका विशेष प्रेम प्रतीत नहीं होता।

तमोगुण जड़ात्मक है, रजोगुण राग और क्रियात्मक तथा सतोगुण सुख और ज्ञानात्मक है। सतोगुण से मनुष्य उन्नति करता है, तमोगुण से गिरता है और रजोगुण दोनों के बीच में रह कर बढ़ाने गिराने की क्रिया कराता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा॥

—गी० अ० १४।१८

अर्थ—सतोगुण का सेवन करने वाले ऊपर को उठते हैं, रजोगुणी बीच में ठहरते हैं और कनिष्ठ तमोगुण का सेवन करने वाले नीचे गिरते हैं।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सात्विक आचरणों से अपने में सतोगुण बढ़ाते हुए उन्नति करने और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। चाहे खनिज-वर्ग का व्यक्ति हो या वनस्पति-वर्ग का, पशु-वर्ग का हो या मनुष्य-वर्ग का—सबको निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिए। चाहे देव-वर्ग का व्यक्ति ही क्यों न हो, किसी एक स्थिति में ठहर जाना उसके लिए पतनकारक है। एक अवस्था में पड़े रहना ही

अथवा तमोगुण है, अत ठहरने से गिरावट होती है। रजोगुण क्रियाशील होने से अपना कार्य निरन्तर करता ही रहता है। यदि आगे बढ़ने का प्रयत्न किया जाय तो बढने में सहायक होता है—नहीं तो पीछे गिरा देता है। ऊपर उठने में प्रयत्न करने की आवश्यकता रहती है, गिरना तो प्रयत्न के बिना ही हो जाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्व भवति भारत।
रज सत्त्व तमश्चैव तम सत्त्व रजस्तथा॥

—गी० अ० १४ १०

अथ—रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्व अधिक होता है और रज एव सत्व को दबा कर तम अधिक होता है, इसी प्रकार तम और सत्व को दबा कर रज अधिक होता है।

इसलिए प्रत्येक वर्ग क व्यक्ति को अपने आचरणों को सात्विक बना कर आगे बढने में तत्पर रहना चाहिए। अपने अपने वर्ग के उपयुक्त आचरणों को सात्विक बना कर ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रमोन्नति करता हुआ बिना रुकावट के अन्तिम दर्जे (परमात्म भाव) तक पहुँच सकता है। यदि आचरण सात्विक बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाय तो तमोगुण की वृद्धि होकर ऊपर चढे हुओं की भी पीछी गिरावट हो जाना अवश्यम्भावी है, अत चढ़ना और गिरना अपने ही अधिकार में है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
—गी० अ० ६-५

अर्थ—अपना उद्धार आप ही करे, अपने आपको गिरने न दे, क्योंकि आप ही अपना बन्धु या आप ही अपना शत्रु है।

प्रथम श्रेणी अर्थात् खनिज-वर्ग के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

स्वतन्त्रता या मुक्ति की इच्छा रखने वाले खनिज-वर्ग के स्त्री पुरुषों को अपने शरीर के आचरण सात्विक बनाना चाहिए। क्योंकि इस शरीर में रह कर ही मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जीवात्मा परमात्मा अर्थात् व्यष्टि-समष्टि की एकता का अनुभव प्राप्त कर सकता है। और इस शरीर द्वारा ही मनुष्य (स्त्री पुरुष) संसार-रूपी नाटक का खेल सबके साथ एकता के प्रेम * भाव युक्त करके स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक वेगों को सम*आहार और सम*विहार द्वारा शान्त करके, शीत, उष्ण, रोग, विपत्तियों आदि से उसकी रक्षा करके तथा शुद्ध वायु में, साफ-सुथरा रख कर उसे आरोग्य, सुदृढ़ एवं बलवान बना कर दीर्घजीवी बनाना

* तृतीय प्रकरण में प्रेम और समता का खुलासा देखिए।

चाहिए, जिससे उसके द्वारा सात्विक आचरण होकर शारीरिक बन्धनों से छुटकारा मिले।

आहार

आहार सात्विक—शरीर को पोषण करने एवं आरोग्य, बलवान तथा सुदृढ बनाए रखने की दृष्टि से करना चाहिए, न कि केवल जिह्वा के स्वाद के लिए। जिह्वा के स्वाद को गौण मान कर, जहाँ तक बन सके, सादा और सम भोजन करना चाहिए। आयु, विवेक शक्ति, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले (अर्थात् खाने के बाद जिनसे अजीर्ण आदि रोग, दुःख और अरुचि पैदा न हो, किन्तु सब प्रकार से आराम मिले), रसदार, चिकने, अधिक ठहरने वाले, हृदय को शक्ति देने वाले, शुद्ध किए हुए तथा अच्छी तरह पकाए हुए, युक्त अर्थात् जितना आराम के साथ पच जाय उतनी मात्रा में नियमित समय पर खाना—सात्विक आहार है।

रजोगुणी तमोगुणी आहार भरसक न खाना चाहिए। अति कड़वे, अति खट्टे, अति खारे, अति गर्म (जलते हुए), अति तीखे, अति रूखे, दाह उत्पन्न करने वाले, जिनके खाने से दुःख, शोक और रोग उत्पन्न हो (अर्थात् अधिक मात्रा में तथा अनियमित रूप से अनेक बार असमय में खाना), दुःख से पचने वाले, बासी, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, एक से अधिक

५९ थार सस्कार किए हुए, जूठे, बुद्धि को हानि पहुँचाने वाले और मैले आहार राजसी तामसी होते हैं।

जल पवित्र, साफ़, छना हुआ, मीठा, न अति ठण्डा और न उष्ण पीना चाहिए।

किसी प्रकार का व्यसन—मादक पदार्थ, धूम्रपान, सुरती-तम्बाकू आदि, बीमारी के बिना चाय, कॉफ़ी, बर्फ़, लेमनेड, सोडा-वाटर आदि तथा अनजानी विदेशी खाने-पीने की चीजें एव बिना रोग के औषधि सेवन आदि से सर्वथा बचे रहना चाहिए।

यह बात सभी बुद्धिमान् लोग मानते हैं कि आहार-विहार का प्रभाव मनुष्य की बुद्धि पर अवश्य ही पडता है। आर्य्य सस्कृति तो यहाँ तक मानती है कि नीति से उपार्जन किया हुआ आहार बुद्धि को शुद्ध रखता है और अनीति से उपार्जन किया हुआ आहार उसको मलिन करता है। तात्पर्य्य यह कि आहार शुद्धि को हमारे यहाँ बहुत ही महत्व दिया गया है और खाने-पीने के लिए मुँह पर एक प्रकार से मोहर सी लगाई हुई रखना आवश्यक समझा गया है। सात्विक आहार से बुद्धि निर्मल होती है और राजस-तामस से मलिन, परन्तु वर्तमान में बुद्धि पर प्रभाव पड़ने का सूक्ष्म विचार तो छूट गया और उसके स्थान पर रूढ़िवाद पर अन्धश्रद्धा रखने वाले लोग छुआ छूत, जाति पाँति आदि के स्थूल विचारों तथा

मर्य्यादा के अनुसार, अवसर और परिस्थिति की आवश्यकता के उपयुक्त वस्त्र पहिनना चाहिए, न कि केवल दिखावे की सुन्दरता बढ़ाने के लिए। किसी विशेष ढङ्ग के पहिनाव में आसक्ति और कट्टरता नहीं रखनी चाहिए। यथाशक्य मोटा, सादा और साफ सुथरा स्वदेशी वस्त्र पहिनना चाहिए। केवल दिखावे की चटक-मटक के बारीक और रेशम आदि के महीन वस्त्र न तो शरीर को शीत उष्ण तथा रोगादि से सुरक्षित रख सकते हैं और न वे लज्जा निवारण ही करते हैं।

व्यायामादि विहार

शरीर में वात पित्त कफादि दोषों को सम रख कर बल और दृढ़ता बनाए रखने एवं उनके बढ़ाने के लिए शक्त्यानुसार स्त्री और पुरुष सबको परिश्रम अवश्य करना चाहिए। जहाँ तक हो सके, उत्पादक श्रम ही करना, परन्तु यदि ऐसा न हो सके तो व्यायाम नित्य नियम से करना चाहिए। अमीरी, आलस्य या प्रमाद में निकम्मे रह कर शरीर को शिथिल न बनाना चाहिए। यथाशक्य स्वदेशी व्यायाम करना चाहिए। फैशनेबल न होने के कारण देशी सादे व्यायामों से घृणा करके विदेशी बहुत खर्चीले व्यायाम और खेलो में आसक्ति रखना सात्विकता के विरुद्ध है। वास्तव में देशी सादे व्यायाम और खेल बहुत अल्प खर्चीले

होते हुए भी विदेशी आडम्बरों से कम लाभदायक नहीं। शक्त्यानुसार पैदल घूमने का अभ्यास अवश्य रखना चाहिए, सवारी आदि में बैठ कर आने-जाने में इतना आसक्त न हो जाना चाहिए कि पैदल चलने की आदत ही छूट जाय और आवश्यकता पड़ने पर पैदल चलने में दुःख हो।

इसी तरह शरीर के दूसरे विहार भी यथाशक्य सादे बनाए रखने चाहिए, ताकि काम पड़ने पर परवशता न रहे और शरीर रोगों से मुक्त रहे।

ब्रह्मचर्य *

काम के वेग की शान्ति के लिए पुरुष को अपनी स्त्री के साथ और स्त्री को अपने पुरुष के साथ केवल ऋतुकाल में—वैद्यक शास्त्र के बँधे हुए नियमों के अनुसार—विषय करना चाहिए। अमर्य्यादित रूप से, असमय में और पराए स्त्री-पुरुष से सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिए। शरीर को आरोग्य, सुदृढ़ एवं बलवान बनाने और मन बुद्धि की सात्विकता के लिए वीर्य की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए इस विषय में बहुत ही संयम से रहना चाहिए। विषयानन्द के लिए वीर्य का जरा भी अपव्यय नहीं करना चाहिए।

दूसरी इन्द्रियों के विषय भी मर्य्यादित रूप से संयम के साथ भोगना चाहिए, उनमें आसक्त होकर तल्लीन न

* तृतीय प्रकरण में ब्रह्मचर्य का खुलासा देखिए।

होना चाहिए। अनियमित विषय भोगों से ही शरीर कमजोर होकर रोग-ग्रसित होता है। आँखों से प्रिय पदार्थों को देखने, कानों से प्रिय ध्वनियों के सुनने, नासिका से सुगन्धित वस्तुओं के सूँघने, त्वचा से सुहावने पदार्थों के स्पर्श करने, जिह्वा से खान पान के स्वादिष्ट रसास्वादन लेने आदि शौक़ीनी के भोगों की ऐसी आदत न डालनी चाहिए कि उनके न मिलने पर चित्त में विक्षेप हो। यदि उपरोक्त भोग्य पदार्थ अधिक प्रयास के बिना प्राप्त हों अथवा गुणियों के गुण तथा कारीगरों के कला कौशल की रक्षा अथवा व्यवसायियों को सहायता देने के लिए व्यवहार में लाना उचित प्रतीत हो तो उनको अनासक्त बुद्धि से, मन* और इन्द्रियों* को वश में रखते हुए भोगने में हानि नहीं। परन्तु उनको निरन्तर भोगने के लिए प्रयास करने, उनकी प्राप्ति के लिए चिन्तित रहने तथा रात दिन उनका ही ध्यान करते रहने से महान् अनर्थ होते हैं और वे सच्चे सुख में बहुत बाधक होते हैं, क्योंकि विषय भोगों का सुख राजसी होने से परिणाम में महान् दुःखदायक होता है।

विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

—गी० अ० १८ ३८

* शम और दम का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

अर्थ—इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला (आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है। यह पहिले तो अमृत के समान प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम विष के समान होता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
—गी० अ० ५ २२

अर्थ—क्योंकि (बाह्य पदार्थों के) संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग, उत्पत्ति और नाश वाले हैं, अतएव वे दुःख के ही कारण हैं। हे कौन्तेय! बुद्धिमान लोग इनमें आसक्त नहीं होते।

नित्य कर्म

सवेरे सूर्योदय से पहिले—जितनी जल्दी हो सके—उठ कर, बिस्तर छोड़ने के पूर्व सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, परमात्मा का स्मरण ध्यान करना चाहिए। फिर शौच, दातुन, स्नान आदि से शरीर के सब अङ्गों को साफ़ और शुद्ध करने के उपरान्त कुछ नियमित समय तक ईश्वरोपासना, मन को एकाग्र करने के लिए यानी अपने व्यक्तित्व को समष्टि में जोड़ने के अभ्यास के लिए, सात्विक भाव से—किसी फल की आशा न रख कर—अवश्य करनी चाहिए, अर्थात् दिन भर संसार के व्यवहार करने में एक परमात्मा सर्वत्र एक समान व्यापक होने का साम्य भाव चित्त में

बना रहे, ताकि आत्मा के विमुख अर्थात् बन्धन करने वाले व्यवहार शरीर से न बने, यानी दूसरों के साथ राग-द्वेषादि के आसुरी व्यवहार न हों, इसलिए सुबह के प्रशान्त समय में कुछ समय तक मन को सर्वात्मा=परमात्मा के चिन्तन रूप एकता में जोड़ना चाहिए।

ईश्वरोपासना विधि *

सर्वात्मा=परमात्मा का सब से अधिक—यथार्थ बोध कराने वाला शब्द अथवा चिन्ह "प्रणव" अर्थात् "ॐकार" है, क्योंकि इस एक अक्षर में ही परमात्मा के सत् चित् आनन्द स्वरूप, उसकी सर्वव्यापकता तथा विश्व की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक एकता का भाव भरा हुआ है।

प्रणवः सर्ववेदेषु।

—गी० अ० ७।८

अर्थ—सब वेदों में ॐकार मैं हूँ।

इसलिए उक्त अर्थ सहित "ॐ" के स्मरण और जप द्वारा परमात्मा की उपासना करना सब से श्रेष्ठ है तथा स्त्री, पुरुष, ऊँच, नीच सब कोई उसको बहुत ही सुगमता से कर सकते हैं। परन्तु यदि पहले उसमें मन न लगे तो प्रथमावस्था में—केवल साधन मात्र के लिए—अपनी-अपनी

* तीसरे प्रकरण में ईश्वर भक्ति तथा जप का खुलासा देखिए।

रुचि के अनुसार, सगुण अथवा निर्गुण उपासना, चाहे किसी मूर्ति, चित्र अथवा दूसरे चिन्ह को लक्ष्य कर अथवा ध्यान द्वारा—जिसमें मन लगे—करे। परन्तु अपने उपास्य देव को एक व्यक्ति या एकदेशी अथवा उत्पत्ति-विनाश वाला न समझना, किन्तु अज, अविनाशी, जगदीश्वर, जगन्नियन्ता, जगदाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आदि गुणों का चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करनी चाहिए। उसमें रजोगुणी-तमोगुणी भाव अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि का आरोप कर, रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थों द्वारा और रजोगुणी-तमोगुणी भावों से उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परमात्मा केवल सात्विक एवम् अनन्य भक्ति से प्रसन्न होता है, न कि रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थों तथा भावों से। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो परमात्मा से पृथक हो, इसलिए उसकी उपासना करने के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

—गी० अ० ९ २६

अर्थ—जो भक्ति से मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा थोड़ा सा जल (अर्थात् जो वस्तुएँ बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो सकती

हैं वे) ही अर्पण करता है उस नियत चित्त व्यक्ति की भक्तियुक्त भेंट को मैं (प्रसन्नतापूर्वक) ग्रहण करता हूँ। अर्थात् प्रत्येक देहधारी की देह में मैं सर्वात्मा परमात्मा ही रहता हूँ; अतः मेरी उक्त देहों के उपयुक्त तथा उनकी आवश्यकता और अपनी योग्यता के अनुसार पत्र, पुष्प, फल या जल ही के द्वारा जो मेरी उक्त देहों की सेवा करता है—जिस तरह पशु पक्षियों की घास, पात, पुष्प आदि से और मनुष्यों की फल जल आदि से अर्थात् जो पदार्थ साधारण स्थिति के लोगों को भी सहज में ही प्राप्त हो सकते हैं उनसे प्रेमपूर्वक जो सेवा करता है, अथवा स्थूल बुद्धि के साधारण व्यक्तियों के मन एकाग्र होने के प्रयोजन से उपासना के लिए कल्पित की हुई देव-मूर्तियों, चित्र एवं दूसरे चिन्हों पर केवल पत्र, पुष्प, फल और जल ही जो भक्ति से चढ़ाता है, उस—सबके साथ प्रेम में जुड़े हुए—व्यक्ति की उक्त भेंट से मैं समष्टि आत्मा = परमात्मा बहुत प्रसन्न होता हूँ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

—गी० अ० ९ २९

अर्थ—सब भूतों में मैं एक समान हूँ, मुझे न तो कोई पदार्थ अप्रिय है और न कोई प्रिय। जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं अर्थात् जो मुझ परमात्मा को सब में एक समान देख कर सबकी प्रेम युक्त सेवा और आदर करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ अर्थात् वे मेरे साथ एक हो जाते हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥
—गी० अ० १५ १३

अर्थ—पृथ्वी के अन्दर रह कर सब भूतों को मैं सर्वात्मा-पर मात्मा अपने तेज से धारण करता हूँ। रसात्मक सोम होकर सब औषधियों अर्थात् वनस्पतियों का पोषण मैं ही करता हूँ।

इसलिए जब संसार का कोई भी पदार्थ उससे अलग नहीं तो उसकी मूर्ति के सामने पदार्थ या भोग्य सामग्री रखने मात्र की उपासना से वह प्रसन्न नहीं होता। पदार्थ तो सांसारिक लोगों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए होते हैं। इसलिए जिसके पास पदार्थ हों उसको उन पदार्थों से देहधारियों की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिए, यही परमात्मा की सच्ची उपासना है, क्योंकि वही सब प्राणियों में रह कर सब भोग भोगता है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
—गी० अ० १५ १४

अर्थ—मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों की देहों में रहता हूँ और प्राण, अपान वायु के समान योग से चार प्रकार के अन्न (भोग्य पदार्थों) को पचाता हूँ (भोगता हूँ)।

सासारिक फलों के लिए देवताओं का पूजन

सासारिक फलो की प्राप्ति के लिए की हुई राजसी उपासना से नाशवान् फल तो प्राप्त होते हैं, परन्तु वे एकत्व भाव अर्थात् स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग मे बाधक होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता ।
त त नियममास्थाय प्रकृत्या नियता स्वया ॥

—गी० अ० ७ २०

यो यो या या तनु भक्त श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचला श्रद्धा तामेव विदधाम्यहम् ॥

—गी० अ० ७-२१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च तत कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

—गी० अ० ७ २२

अन्तवत्तु फल तेषा तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

—गी० अ० ७-२३

अर्थ—भिन्न भिन्न कामनाओं से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग अपनी-अपनी प्रकृति के वश, मुझ समष्टि आत्मा=परमात्मा से भिन्न देवताओं को मान कर, उपासना के भिन्न भिन्न नियम पालन करके, उनका भजन-पूजन करते हैं।

जो-जो देव भक्त जिस भिन्न शरीरधारी देवता की श्रद्धा[1] पूर्वक पूजा करने की इच्छा करता है उस उस की श्रद्धा, मैं (सबका आत्मा परमात्मा) उस-उस देवता में स्थिर कर देता हूँ।

उस श्रद्धा से युक्त वह (भक्त) उस (देवता) की आराधना करता है और उसी के अनुसार उसकी कामनाओं की यथा-योग्य पूर्ति, मुझ (सबके आत्मा परमात्मा) ही से होती है।

परन्तु इन अल्प बुद्धि वाले लोगों को मिलने वाले ये फल नाशवान् होते हैं। देवताओं को भजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

भावार्थ यह है कि परमात्मा से भिन्न न तो पूजा करने वाला है और न पूजा जाने पर फल देने वाला देवता ही। परन्तु पृथकता के भ्रम से अपने व्यक्तित्व को अलग मानने के तामसी अहङ्कार वाले लोग अपने विषय-सुखों एवं धन-पुत्रादि की कामनाओं से आतुर होकर आप ही—अपनी उन कामनाओं युक्त मन से—अलग अलग देवता कल्पित कर लेते हैं और आप ही (उनमें स्थापित की हुई) अपनी अचरा श्रद्धा से—फल उत्पन्न कर लेते हैं। यदि एक ही देवता को

[1] श्रद्धा का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

मानने वालों की संख्या बहुत हो और उसमें उनकी अचल (दृढ) श्रद्धा हो तथा सब मानने वालों में इस विषय में आपस की एकता का भाव हो तो उस बढ़ी हुई सम्मिलित भावना के कारण लोगों की कामनाओं की पूर्ति की अधिक सम्भावना रहती है। परन्तु इन विषय-सुखों की कामनाओं की प्राप्ति के लिए उत्पन्न होने वाली श्रद्धा का फल, इन विषय सुखों को देने वाले कल्पित देवताओं को उत्पन्न करके, उनके द्वारा इन नाशवान् कामनाओं की प्राप्ति कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। परन्तु जिनको सर्वत्र एक परमात्मा का निश्चय होता है वह अपने व्यक्तित्व को उसमें समर्पण कर देते हैं, अत वे परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

अपने उपास्य देव में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए दूसरों के इष्ट की निन्दा या अनादर न करना चाहिए, किन्तु सबके देवो में अपने उपास्य देव को व्यापक देखना चाहिए, क्योंकि सब चराचर सृष्टि में एक ही परमात्मा ओत प्रोत भरा हुआ है। भिन्न भिन्न मजहब, भिन्न भिन्न मत तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले चाहे उसको भिन्न भिन्न नामों तथा भिन्न भिन्न उपाधियों से विभूषित करके उसकी उपासना भिन्न-भिन्न तरीक़ों से भले ही करें, परन्तु वास्तव मे सब उपाधियों मे एक परमा[illegible]

ही नहीं—यह दृढ़[illegible]

परमात्मा के एकत्व भाव के तत्त्व को न जान कर, भिन्न-भिन्न लोगों के ईश्वर को पृथक् पृथक् मानते हैं वे परमात्मा को प्राप्त नहीं हो सकते।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥
—गी० अ० ६ २३

अहं हि सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
—गी० अ० ६ २४

अर्थ—हे कौन्तेय ! मुझ परमात्मा से भिन्न, अन्य देवता मान कर उनका श्रद्धायुक्त पूजन करने वाले भी मेरा ही पूजन करते हैं, परन्तु वह पूजन विधिहीन होता है।

क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, परन्तु वे तत्त्वत मुझे नहीं जानते, इसलिए गिर जाया करते हैं।

तात्पर्य यह कि जब एक परमात्मा के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो देवताओं की कल्पना करके उनको पूजने वाले भी परोक्ष रूप से परमात्मा ही का पूजन करते हैं, परन्तु वे लोग देवताओं को परमात्मा से पृथक् मान कर व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के भाव से उनका पूजन करते हैं, एकत्व भाव से नहीं करते, अत वह विपरीत भाव का पूजन उनके पतन का कारण हो यहाँ इतना कह देना

अपनी हैसियत से बहुत ऊँचे दर्जे का विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लालायित न होना, किन्तु विशेष ध्यान अपनी समता अर्थात् समान गुण एवं समान योग्यता वालों के साथ सम्बन्ध करने पर ही रखना चाहिए, क्योंकि वास्तविक सुख समान स्थिति, समान आहार-व्यवहार तथा समान विचार वाले सम्बन्ध में ही होता है। असमान सम्बन्ध से लम्बी मुद्दत के लिए सुख नहीं होता।

विवाह सम्बन्ध में जन्मपत्रियों में लिखे हुए ग्रहों के मिलान करने की प्रथा से हानि के सिवाय लाभ कुछ भी नहीं है, क्योंकि जन्मपत्रियों के अनुसार ग्रहों के फल ठीक-ठीक मिलें, यह निश्चय नहीं है। अनेक अवसरों पर तो बहुत विपरीत फल होते देखे गए हैं। ऐसी अवस्था में जन्मपत्रियों का मिलान करके नाहक वहम उत्पन्न नहीं करना चाहिए। जात-पाँत के सङ्कीर्ण विचारों के कारण योग्य वर-वधू की जोड़ मिलना वैसे ही बहुत दुर्लभ है, इतने पर भी सौभाग्य-वश जब कोई योग्य जोड़ मिल जाती है तो ज्योतिषी जी महाराज की ग्रह शान्ति हुए बिना वे बीच में टाँग अड़ा कर योग्य सम्बन्ध जुटने में बाधा लगा देते हैं। फलत बहुत से बाल और बेजोड़ विवाह होने में जन्मपत्री का मिलान भी एक प्रधान कारण हो जाता है। सुख दुख जन्मपत्री मिलाए हुए विवाहों में भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बिना मिलाए हुओं में। बल्कि जन्मपत्री बिना मिलाए

विवाहों में जोड़ ठीक बैठने से अधिक सुख की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में जन्मपत्रियों के मिलान पर विश्वास और वहम करके विवाह सम्बन्ध जैसे पवित्र और जन्म भर के सुख दुःख निर्भर करने वाले गुरुतर कार्य्य के लिए स्वार्थी ज्योतिषियों के अधीन रहना बड़ी मूर्खता है।

विवाह-व्यवस्था

विवाह-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी आजकल बहुत वाद विवाद चलता है। कई लोग तो सन्तानों के विवाह पूर्ण रूप से माता-पिता और उनकी अनुपस्थिति में बड़े भाई आदि अभिभावकों के अधीन रखना ही श्रेयस्कर मानते हैं, एवं जिनका विवाह होता है उनका इस विषय में एक शब्द उच्चारण करना भी नीति विरुद्ध एवं अधर्म समझते हैं, और कई लोग विवाह करने वालों ही को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। प्रथम पक्ष वाले विवाह का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पत्ति ही मानते हैं, जिससे मृत पितरों को परलोक में पिण्डोदक पहुँचाने वाला वंश चलता रहे और दूसरे पक्ष वाले स्थूल शरीर के विषय भोगादि सुखों पर ही प्रधान लक्ष्य रखते हैं। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो दोनों ही पक्ष व्यक्तिगत स्वार्थ और आधिभौतिक सुखों की दृष्टि पर ही अवलम्बित हैं। वास्तव में विवाह का सच्चा उद्देश्य, स्त्री-पुरुष का—परस्पर एकता के निःस्वार्थ प्रेम

भाव से रहते हुए और आपस के सहयोग से एक दूसरे के शरीरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए तथा प्राकृतिक वेगों को मर्य्यादित रूप से शान्त करते हुए—अपनी-अपनी आत्मोन्नति करने के साथ साथ समाज को सुव्यवस्थित रख कर उसकी उन्नति में भी सहायक होना है। सन्तानोत्पत्ति तथा आधिभौतिक विषय सुख तो इसके गौण फल हैं। वे तो विवाह के बिना भी नर मादा के संयोग से पशु पक्षियों में भी होते ही हैं।

विवाह के उक्त पवित्र एवं सच्चे उद्देश्य की सिद्धि के लिए, वर वधू के माता पिता तथा उनकी अनुपस्थिति में अन्य अभिभावकों को—किसी भी प्रकार के अपने व्यक्तिगत इहलौकिक तथा पारलौकिक स्वार्थ सिद्धि का विचार न रख कर—केवल उनके (वर-वधू के) हित की दृष्टि से उनके उपयुक्त जोड़े को अच्छी तरह जाँच पड़ताल करके चुनना चाहिए, फिर उनको एक दूसरे के गुणों से अच्छी तरह परिचित करा देने के उपरान्त दोनों को अपने सम्मुख बैठा कर उनका आपस में वार्तालाप करवाना चाहिए। इसमें लज्जा या सङ्कोच बिल्कुल न रखना चाहिए। इस तरह करने पर वे एक दूसरे को पसन्द कर लें तब उनका सम्बन्ध करना चाहिए। वर-वधू की प्रसन्नतायुक्त सम्मति के बिना तथा माता पिता आदि के चुने बिना कोई भी सम्बन्ध होना उचित नहीं। चाहे प्रथम विवाह

हो या पुनर्विवाह, इसी पद्धति से होना सुखदायक हो सकता है।

विवाह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्य है, जिस पर केवल इस जन्म का ही नहीं, किन्तु भविष्य के जन्मों का भी सुधरना-बिगड़ना निर्भर है, इसलिए इस विषय में बहुत ही सोच विचार तथा सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। यह कार्य यदि माता पिता आदि के ही अधीन रहे तो वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से अथवा अज्ञानवश या वर वधू की रुचि न जानने के कारण अयोग्य जोड़ा चुन सकते हैं जिससे दोनों का भविष्य बिगड़ सकता है—जैसे कि वर्तमान में अधिकतर हिन्दू समाज में हो रहा है, और यदि युवक-युवतियों पर ही छोड़ दिया जाए तो अनुभव की कमी तथा यौवन के वेग में अत्यन्त विषयासक्ति होने के कारण, आवेश में आकर—परिणाम पर दीर्घ दृष्टि से विचार किए बिना—उनके अयथार्थ निर्णय की सम्भावना अधिक रहती है, जिससे अयोग्य जोड़ा चुना जा सकता है और जिसका परिणाम आगे जाकर भयङ्कर होता है, जैसे कि आजकल के सभ्य समाज में बहुतायत से देखा जाता है। अत इस सम्बन्ध में माता पिता तथा वर वधू दोनों को अपना-अपना कर्त्तव्य यथायोग्य पालन करना चाहिए। जिन बड़ी आयु के वर-वधू के माता पिता आदि अभिभावक न हों उनको भी अपने-अपने सुहृदय जनों की सम्मति से अपने विवाह

योग्य जोड़े को चुनना चाहिए। विवाह सम्बन्ध अपने अनुकूल आयु तथा उपयुक्त गुणों की जोड़ मिलने ही से सुखदायक तथा शुभ परिणाम जनक होता है—स्वार्थ और भोग कामना से कदापि नहीं। बेजोड़ विवाह का दुष्परिणाम केवल विवाह करने वालों ही को नहीं, किन्तु सब समाज को भोगना पड़ता है।

भाई और बहिन यदि अपने से बड़े हों तो उनको भी पूज्य मानना, उनसे अपनी एकता के प्रेम एवं आदर-सम्मान युक्त व्यवहार करना, आवश्यकता पड़ने पर उनकी सेवा करना और उनके सुख दुःख में सहायक होना चाहिए और यदि अपने से छोटे हों तो उनके साथ अपने पुत्र पुत्री के समान एकता के प्रेमयुक्त वात्सल्य भाव का व्यवहार करना तथा उनकी शारीरिक एवं मानसिक उन्नति में सहायक होना। इसी तरह जो दीन और अनाथ कुटुम्बी अपने आश्रय में हों उनका प्रेम सहित पालन पोषण, रक्षण शिक्षण प्रसन्न चित्त से करना चाहिए। यदि वे बालक हों तो अपनी सन्तानों की तरह उनके प्रति वात्सल्य भाव का व्यवहार करना और यदि बड़ी आयु के हों तो पूज्य भाव से उनके साथ आदर सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। सबके सुख दुःखों में सहायक होना और उनकी वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने तथा उनके वास्तविक हित साधन के व्यवहारों में सहयोग देना चाहिए।

कौटुम्बिक अत्याचार

भारतवर्ष ने जब से आध्यात्मिकता को केवल निवृत्ति के उपयोगी समझ कर ससार के व्यवहारों से उसको अलग कर दिया अर्थात् जब से दर्शन-शास्त्रों का विचार केवल पर्वतों की कन्दराओं में रहने वाले, ससार से विरक्त—त्यागी महात्माओं ही के उपयोग की वस्तु समझी जाने लगी—गृहस्थी लोग उससे सर्वथा वञ्चित हो गए—तब ही से यहाँ के लोगो में जड़ता बढ़ती गई और इस समय यहाँ अधिक सख्या आसुरी प्रकृति के लोगों ही की हो गई है। ये लोग स्वय अपने कुटुम्ब के साथ भी एकता के प्रेमयुक्त बर्ताव नहीं करते तो फिर अखिल विश्व के साथ एकता के प्रेमयुक्त बर्ताव की तो बात ही कैसी। अपने इस लोक तथा परलोक के व्यक्तिगत स्वार्थों तथा शरीर के क्षणिक सुख के लिए विषय करके ये लोग कीड़ों मकोड़ों की तरह सन्तान उत्पन्न तो करते रहते हैं, परन्तु उनके उचित रीति से पालन पोषण, रक्षण-शिक्षण के लिए कुछ भी कष्ट उठाना नहीं चाहते। अपना (शरीर का) नाम अपने पीछे बहुत काल तक चलता रहे तथा मरने के बाद परलोक में—अपने को स्थूल शरीर मिलने तथा उसके भूखे-प्यासे मरने की कल्पना करके, वहाँ उस शरीर को—जल तथा अन्न का पिण्ड पहुँचने की आशा से पुत्र उत्पन्न होने के लिए (यदि

साधारण तौर से उत्पन्न न हो तो) बड़े-बड़े यत्न करते हैं और उसके उत्पन्न होने पर बहुत हर्ष मनाते हैं। यदि यत्न करने पर भी पुत्र उत्पन्न न हो तो किसी लड़के को खरीद कर या गोद लेकर बड़ी खुशी मनाते हैं तथा ऐसे पुत्रों को बड़े लाड़-प्यार से रखते हैं, परन्तु लड़की बिना यत्न के ही उत्पन्न हो जाने पर बहुत शोकातुर होते हैं और उससे बड़ी घृणा करते हैं। कई लोग तो उसको जन्मते ही मार डालते हैं और जो नहीं मारते वे भी सदा उसका तिरस्कार करते हुए उसके मरने की कामना करते रहते हैं और यदि वह मर जाय तो बड़े प्रसन्न होते हैं, क्योंकि उससे उनको अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की आशा कुछ भी नहीं रहती—नाहक उसको खिलाने पिलाने आदि पर खर्च करना और कष्ट उठाना पड़ता है। अपना उत्तराधिकारी धनवान बना रहे—इस व्यक्तिगत मोह तथा प्रतिष्ठा के लिए पुत्र के वास्ते तो अनेक तरह के कुकर्म करके न्याय अन्याय से धन बटोर कर छोड़ जाना अपना परम धर्म समझते हैं, परन्तु कन्या को—विवाह और गौने आदि के अवसर पर समाज में अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए लाजिमी दहेज देने (सो भी कन्या को नहीं, किन्तु उसके ससुर आदि अपने सम्बन्धी को) के अतिरिक्त—कुछ भी देना अन्याय मानते हैं। चाहे कन्या कितनी ही दीन अवस्था या विपत्ति में क्यों न हो, चाहे वह पिता की नादेहन्दी के कारण सास-

ननद आदि के तानों से कोसी जाकर मर ही क्यों न जाय, परन्तु उसको कुछ भी देकर विपत्ति से बचाना या सन्तुष्ट करना अपने कर्त्तव्य से बाहिर मानते हैं।

पुत्र—चाहे औरस हो या खरीदा हुआ दत्तक, घर की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वही होता है। उसकी अनुपस्थिति में बाप-दादे आदि सात पुश्तों की औलाद के पुरुष उत्तराधिकारी हो जाते हैं, परन्तु अपने शरीर से उत्पन्न कन्या का अपने पिता की सम्पत्ति में रत्ती भर भी अधिकार नहीं, क्योंकि उससे अपने शरीर का नाम नहीं चलता और न उसका दिया हुआ पिण्डोदक ही पहुँच सकता है—ऐसा भ्रम घुसा हुआ रहता है।

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए बालक-बालिकाओं को बेच देने में भी इन्हें कोई सङ्कोच नहीं। धन-प्राप्ति के लिए अथवा लोगों में अपना मान बढ़ाने तथा मरने के बाद पिण्डोदक पहुँचाते रहने वाली औलाद उत्पन्न होने के लिए पुत्र का विवाह छोटी अवस्था में ही कर देते हैं, परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए किए हुए बाल और बेजोड़ विवाहों से होने वाले बालकों के सर्वनाश का इनके चित्त पर कोई असर नहीं पड़ता। धन लेकर अथवा भविष्य में आर्थिक लाभ की आशा से अथवा किसी बड़े आदमी के ससुरे, साले आदि कहलाने के मान के लिए अथवा लड़की के [illegible] के पहिले विवाह करने के पुण्य कमाने की

लालसा से अथवा रजस्वला होने के बाद अविवाहित रखने के कल्पित पाप तथा लोक निन्दा से बचने के लिए अथवा (इनमें से कोई भी अर्थ सिद्ध न हो तो) लड़की को घर से जल्दी बाहिर करके उससे पीछा छुड़ा कर निश्चिंत होने के स्वार्थ के लिए उसको चाहे जैसे अयोग्य, बालक, बुड्ढे, मूर्ख, रोगी, गँवार, विधुर तथा जिसके एक या अधिक स्त्रियाँ और सन्तान मौजूद हों ऐसे वर को भी जहाँ तक बन सके जल्दी दे डालना इनके नजदीक बिल्कुल ही उचित और न्यायसङ्गत है। जब तक कुँवारी कन्या घर में रहती है तब तक इनको बड़ी ही चिन्ता रहती है, मानो इनके सिर पर कोई भारी बोझ लदा हुआ है और जब तक उसको घर से निकाल बाहिर नहीं करते तब तक इनकी नींद हराम हो जाती है, परन्तु जिस दिन उसके विवाह का स्वाँग करके उसको घर से विदा कर देते हैं उस दिन माता पिता सुख की नींद सोते हैं। फिर वह दी हुई लड़की चाहे तुरत ही विधवा होकर जन्म भर रजस्वला होती रहे तथा विवश होकर कुकर्म एवं गर्भपात करके अपना सर्वनाश कर ले और कितना ही कष्ट क्यों न पावे, इनकी जाने बला! उसका दूसरा विवाह वे हरगिज नहीं करते, क्योंकि पुनर्विवाह करने से तो—इनके मतानुसार—इनका धर्म डूब कर स्वयं घोर नरक में पड़ने का भय रहता है और न करने से कुछ भी व्यक्तिगत पाप लगने की आशङ्का नहीं रहती, किन्तु बड़े धर्मात्मा बने रहते हैं।

स्त्रियों पर अत्याचार

इसी तरह अपनी पत्नी को भी अधिकांश लोग केवल अपने शरीर के विषय भोग तथा स्वार्थ-साधन की जड़ सामग्री समझते हैं। पत्नी जब तक रूप-यौवन आदि गुणों के कारण विषय भोग के उपयुक्त रहती है, अपने शरीर को सुख देने वाले आचरण और सेवा-टहल करती है, अपनी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करती, अपनी स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध कुछ भी उज्र नहीं करती और पुत्र उत्पन्न करती है तब तक तो उससे खूब प्यार करके जैसा वह कहे, अन्धे होकर उसीके अनुसार किया जाता है और जैसा नाच वह नचावे वैसा ही नाचा जाता है। उस दशा मे ससार में उसके बराबर और कोई पदार्थ नहीं होता। परन्तु जब उसके रूप यौवनादि गुण अपने अनुकूल नहीं होते अथवा वह आज्ञापालन या सेवा आदि मे त्रुटि करती है अथवा पुरुष के मनमाने अत्याचार सहन करने में आनाकानी करती है तो फौरन ही प्यार की नजर से देखे जाने के अधिकार खो बैठती है और मोहब्बत उससे हट कर दूसरी किसी मनचाही स्त्री पर डेरा जमाती है, तब उसका (स्त्री का) केवल झिड़कियों तथा गालियों द्वारा ही सत्कार नहीं किया जाता, किन्तु मार-पीट द्वारा पूजन भी किया जाता है और पर तो वह किसी काम की ही नहीं रहती। कई

शक्तिशाली एवं सम्पन्न लोग—एक-एक पुरुष—अपने भोग के लिए अनेक पत्नियाँ तथा उप-पत्नियाँ रख कर ही सन्तोप नहीं करते, किन्तु दूसरों की पत्नियों से व्यभिचार करने में भी अपनी बड़ी प्रतिष्ठा समझते हैं, परन्तु जो इतनी निरङ्कुशता नहीं कर सकते वे भी थोड़ा सा बहाना मिलने पर एक पत्नी की मौजूदगी मे ही दूसरी लाकर दोनों का सर्वनाश कर देते हैं, और स्त्री के वन्ध्या होने पर (यद्यपि वन्ध्या होने का दोष केवल स्त्रियो का ही नहीं होता) या आज्ञा का उल्लङ्घन करने पर या किसी दीर्घ रोग ग्रसित होने पर या सच्चा-झूठा इल्जाम लगने पर—यहाँ तक कि कटुभाषिणी होने पर भी—फौरन दूसरी पत्नी लाना परम धार्मिक कृत्य माना जाता है और एक पत्नी के मरने पर दूसरी लाने में तो पुरानी जूती फेंक कर नई लाने में जितना विचार होता है उतना भी शायद नहीं होता।

पुरुष की सम्पत्ति पर उसके जीवन काल मे तो स्त्री को किसी प्रकार का अधिकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु पुरुष के मरने पर यद्यपि स्त्री जन्म भर वैधव्य भोगती हुई जड़वत् घर के एक कोने में बैठी, सड़ सड़ कर जीवन बिताने के लिए बाध्य की जाती है, परन्तु पति की सम्पत्ति में—सिवाय परिवार की सेवा टहल करने के ऐवज में रूखा-सूखा अन्न खाने के और कोई अधिकार नहीं रहता। विधवा होने पर वह इतनी अशुभ और तिरस्कृत बना दी

किया जाता है, परन्तु यदि इसमें सफलता न हो तो या तो वे बेचारी विषादि के प्रयोग से मार डाली जाती हैं या उन्हें घर से निकाल कर समाज में अपना मुख उज्ज्वल किया जाता है। इस तरह घर से निकली हुई वे बेचारी या तो निर्दयी गुण्डों के हथकण्डों में पड़ कर घोर विपत्ति और कष्ट उठाती हैं या वेश्या-वृत्ति से नारकीय जीवन व्यतीत करती हैं अथवा इतनी यातनाओं से तङ्ग आकर आत्मघात कर लेती हैं। इस तरह के पैशाचिक कृत्य इन लोगों की दृष्टि में धर्म्म-सम्मत हैं और उन अबलाओं का इस तरह सर्वनाश करने वाले धर्मात्मा ही बने रहते हैं, परन्तु जवान विधवाओं का विवाह करके उनको सद्गृहस्थिनी बनाना बड़ा पापाचार माना जाता है।

पहिले ज़माने में जब सती दाह की अमानुषी प्रथा प्रचलित थी तब तो बेचारी विधवाओं को अग्नि में जलने की दारुण वेदना घण्टे आध घण्टे मूर्च्छित होने तक ही सहन करनी पड़ती थी, परन्तु अब तो बिना अग्नि के ही जलते रहने की मर्म-वेदना बेचारी विधवाओं को जन्म भर भोगनी पड़ती है। इससे अधिक नृशंस राक्षसी व्यवहार और क्या हो सकता है ?

स्त्रियों को पर्दे के अन्दर बन्द रख कर सड़ाना, बुद्धि-विकास के साधन उनकी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारों को घूँघट से ढाँक कर बन्द कर रखना और बेचारियों को पिञ्जरे

की चिड़िया बनाए रखना उच्चकोटि की मर्य्यादा मानी जाती है।

स्त्रियों को पर्दे के अन्दर इस वास्ते रक्खा जाता है कि पुरुप उन पर कुदृष्टि न डालें अर्थात् कुदृष्टि डालने का पाप तो करें पुरुष और उस पाप का फल भोगें बेचारी स्त्रियाँ। कैसा विचित्र न्याय है? मुँह बन्द करके पर्दे में रखना चाहिए कुदृष्टि डालने वाले पुरुषों को, परन्तु रक्खी जाती हैं निर्दोष अबलाएँ। यह बात ध्यान में रखने की है कि स्त्रियों को अधिकतर अपने ससुराल की तरफ़ के बड़ों से घूँघट करवाया जाता है, जिससे साबित होता है कि घर के "बडेरे" ही कुदृष्टि डालने वाले पापी हैं, इसलिए घर के पुरुषों के पाप का फल भी, उनके बदले बेचारी स्त्रियों को भोगना पड़ता है।

अबलाओं की पुकार

(तर्ज लावनी)

टेर

सज्जन सुनो दे कान, धर्म का जो दम भरते हो।
नारी नर से कहे, ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो॥

अन्तरा

ब्रह्मा जी ने आदि काल में सृष्टि रची सारी।
एक भुजा से हुआ पुरुष और दूजी से नारी॥

सङ्गठन मे रहते हुए मनुष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के बदले उलटा अधिक सङ्कुचित हो जाता है जिससे उन्नति के बदले उलटी अवनति होती है। प्रत्येक समाज के टुकड़े-टुकड़े होकर इतने फिरक़े बन गए हैं कि उनका दायरा बहुत ही छोटा और सङ्कुचित हो गया है। प्रत्येक फिरक़ा अपने अत्यन्त सङ्कीर्ण नियमो की मज़बूत चहारदिवारी के भीतर इस तरह जकड़ कर क़ैद हो गया है कि उसका कोई भी व्यक्ति उससे बाहिर—किसी दूसरे फिरक़े के व्यक्ति के साथ—किसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकता। इस तरह की सङ्कुचितता मे सात्विक भावों के विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक फिरक़े के नियम प्रायः जन्म, मृत्यु और विवाह आदि सम्बन्धी रीति रिवाज और रूढ़ियों का पालन करवाने तथा इन अवसरों पर अपने सभ्यों से लाज़िमी तौर पर बिरादरी और ब्राह्मणो के लिए मिष्टान्न भोजन आदि के आसुरी आडम्बर करवाने तक ही परिमित होते हैं। इनके अतिरिक्त किसी प्रकार की धार्मिक, आर्थिक अथवा नैतिक भलाई या उन्नति पर कोई लक्ष्य नहीं रहता। उन फिरक़ों के नेता=पञ्च लोग अपने अपने फिरक़े को अपनी मौरूसी जायदाद समझ कर उससे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं और अपने नेतापन की प्रतिष्ठा के अभिमान में लोगों को दबाते तथा कष्ट देते हैं। किसी के घर में मृत्यु होने पर लाज़िमी

तौर से उससे मिष्टान्न भोजन करवा कर माल उड़ाते हैं। जिस व्यक्ति से ऐसे भोज करवाए जाते हैं वह—चाहे कैसा ही दीन हो अथवा अनाथ विधवा हो या नाबालिग बचा हो और मृत्यु भी चाहे ऐसे जवान की क्यों न हो, जिससे उसका घर एकदम बले बैठ जाए—फिर भी इन लोगों को उसके यहाँ माल उड़ाने तथा जहाँ तक बन सके बेचारे दीन, दुखिया शोकातुर भोजन कराने वाले को तङ्ग करने और दुख देने में किसी प्रकार का तरस नहीं आता। चाहे वे बेचारे दीन और अनाथ अपना घर एवं वस्त्राभूषण बेच डालें अथवा असहाय विधवाओं के जीवन निर्वाह के लिए कुछ भी साधन न रहने से चाहे वे अपना शरीर भी गिरवी क्यों न रख दें अर्थात् पेट की ज्वाला बुझाने और छोटे बच्चों को पालन करने के लिए उनको आततायियों की मजदूरी करके अपने सतीत्व को भी तिलाञ्जलि देना पड़े, परन्तु बिरादरी का वह प्रेत-भोज करना लाजिमी है। यदि कोई अत्यन्त गरीबी के कारण ऐसे भोज (जिनको "कारज" कहते हैं) करने में असमर्थ होता है तो फिर वह समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता और उसका "नाक कट गया" माना जाता है तथा वह समाज के लोगों से सदा कोसा जाता है। जब मृत्यु के अवसर पर भी इस तरह का राक्षसी व्यवहार होता है तब विवाहादि हर्ष के अवसरों की सामाजिक रीति-रिवाजों और भोज आदि के आसुरीपन

सङ्गठन में रहते हुए मनुष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के बदले उलटा अधिक सङ्कुचित हो जाता है जिससे उन्नति के बदले उलटी अवनति होती है। प्रत्येक समाज के टुकड़े-टुकड़े होकर इतने फ़िरक़े बन गए हैं कि उनका दायरा बहुत ही छोटा और सङ्कुचित हो गया है। प्रत्येक फ़िरक़ा अपने अत्यन्त सङ्कीर्ण नियमों की मज़बूत चहारदिवारी के भीतर इस तरह जकड़ कर क़ैद हो गया है कि उसका कोई भी व्यक्ति उससे बाहिर—किसी दूसरे फ़िरक़े के व्यक्ति के साथ—किसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकता। इस तरह की सङ्कुचितता में सात्विक भावों के विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक फ़िरक़े के नियम प्राय जन्म, मृत्यु और विवाह आदि सम्बन्धी रीति रिवाज और रूढ़ियों का पालन करवाने तथा इन अवसरों पर अपने सभ्यों से लाज़िमी तौर पर बिरादरी और ब्राह्मणों के लिए मिष्ठान्न भोजन आदि के आसुरी आडम्बर करवाने तक ही परिमित होते हैं। इनके अतिरिक्त किसी प्रकार की धार्मिक, आर्थिक अथवा नैतिक भलाई या उन्नति पर कोई लक्ष्य नहीं रहता। उन फ़िरक़ों के नेता=पञ्च लोग अपने अपने फ़िरक़े को अपनी मौरूसी जायदाद समझ कर उससे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं और अपने नेतापन की प्रतिष्ठा के अभिमान में लोगों को दबाते तथा कष्ट देते हैं। किसी के घर में मृत्यु होने पर लाज़िमी

तौर से उससे मिष्ठान्न भोजन करवा कर माल उड़ाते हैं। जिस व्यक्ति से ऐसे भोज करवाए जाते हैं वह—चाहे कैसा ही दीन हो अथवा अनाथ विधवा हो या नाबालिग बच्चा हो और मृत्यु भी चाहे ऐसे जवान की क्यों न हो, जिससे उसका घर एकदम तले बैठ जाए—फिर भी इन लोगों को उसके यहाँ माल उड़ाने तथा जहाँ तक बन सके बेचारे दीन, दुखिया शोकातुर भोजन कराने वाले को तङ्ग करने और दुख देने में किसी प्रकार का तरस नहीं आता। चाहे वे बेचारे दीन और अनाथ अपना घर एवं वस्त्राभूषण बेच डालें अथवा असहाय विधवाओं के जीवन निर्वाह के लिए कुछ भी साधन न रहने से चाहे वे अपना शरीर भी गिरवी क्यों न रख दें अर्थात् पेट की ज्वाला बुझाने और छोटे बच्चों को पालन करने के लिए उनको आततायियों की मजदूरी करके अपने सतीत्व को भी तिलाञ्जलि देना पड़े, परन्तु बिरादरी का वह प्रेत भोज करना लाज़िमी है। यदि कोई अत्यन्त गरीबी के कारण ऐसे भोज (जिनको "कारज" कहते हैं) करने में असमर्थ होता है तो फिर वह समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता और उसका "नाक कट गया" माना जाता है तथा वह समाज के लोगों से सदा कोसा जाता है। जब मृत्यु के अवसर पर भी इस तरह का राक्षसी व्यवहार होता है तब विवाहादि हर्ष के अवसरों की सामाजिक रीति-रिवाजों और भोज आदि के आसुरीपन

का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। तात्पर्य्य यह कि वर्तमान के सामाजिक सङ्गठन में रहने से मनुष्य को विवश होकर आसुरी व्यवहार करने पड़ते हैं। उसके नियमों को पालन करते हुए मनुष्य सात्विक आचरण कर ही नहीं सकता। अतएव सात्विक आचरण की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अपने समान गुणों तथा समान विचार वाले व्यक्तियों के समाज का स्वतन्त्र सङ्गठन करना चाहिए।

चौथी श्रेणी (मनुष्य वर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

जिन लोगों का आत्म-विकास इतना विस्तृत हो गया है कि वे अपने देश की सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और देशोन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं, उनको जाति, वर्ण, धर्म या मत आदि के भेद भाव बिना सारे देश वासियों के साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए सब से प्रेमयुक्त व्यवहार करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को सारे देशवासियों के व्यक्तित्व में जोड़ देना और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को देश के स्वार्थों के अन्तर्गत समझना चाहिए। निःस्वार्थ भाव से देश के कष्ट दूर करना तथा उसकी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति करने एवं शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। देश की हानि में अपनी, अपने कुटुम्ब तथा समाज की हानि और देश के लाभ में सबका लाभ समझना चाहिए। किसी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा आदि के लिए देश सेवा नहीं करनी चाहिए।

अपने देश की सेवा करते हुए दूसरे देशों के साथ भी प्रेम और मेल जोल रखना चाहिए और अपने देशवासियों में दूसरे देशवासियों के साथ प्रेम के बर्ताव करने के भाव उत्पन्न करने चाहिए। अपने देश के धन-बल, जन-

धन, प्राचीनता, विद्या और कला-कौशल की उन्नति आदि, प्रतिक्षण परिवर्तनशील आधिभौतिक शक्तियों के मोह और घमण्ड में आसक्त होकर दूसरे देशवासियों को दबाना न चाहिए और न उनसे ईर्षा, द्वेष एवं घृणा के भाव ही रखना चाहिए, क्योंकि सभी देश एक ही परमात्मा की माया शक्ति के अनेक नाम और रूप हैं, अत जिस देश के निवासी अपनी आधिभौतिकता के घमण्ड में दूसरे देशवासियों से घृणा करते हैं या उन्हें दबाते और कष्ट देते हैं वे स्वयं तिरस्कृत होते, कष्ट पाते एवं दूसरों से दबते तथा पराधीन रहते हैं। क्योंकि दूसरों से ईर्षा, द्वेष, घृणा और तिरस्कार करने की प्रतिक्रिया स्वयं अपने ऊपर होती है जिससे अपने देश ही में आपस में द्वैत भाव बढ़ कर एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे की हानि करने एव एक दूसरे के साथ घृणा, तिरस्कार एव ईर्षा, द्वेष करने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उस देश का अध पतन हो जाता है। परन्तु जिस देश के निवासी आपस म एकता का प्रेम रखते हुए, अपने देश को सुख समृद्धिशाली एव उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील होने के साथ-साथ दूसरे देश वालों से मेल जोल, मैत्री एवं प्रेम रखते हैं वह देश सदा उन्नत, सुख समृद्धि सम्पन्न, शक्तिशाली एवं स्वाधीन रहता है।

भारतवर्ष जब तक दूसरे देशवासियों से मैत्री और प्रेम का व्यवहार करता रहा, तब तक वह सुख-समृद्धि सम्पन्न,

शक्तिशाली, एव उन्नत रहा, परन्तु जब से यहाँ के लोग अपनी प्राचीनता, धार्मिकता एव पवित्रता आदि बड़प्पन के घमण्ड में दूसरे देश वालों को दबाने और उनसे ईर्षा, द्वेष तथा घृणा करने लगे एव दूसरे देशों में जाने से भी परहेज करने लगे, तब से ही प्रतिक्रिया स्वरूप यहाँ के निवासियो में फूट पड कर आपस मे वही ईर्षा, द्वेष, घृणा और परहेज करने तथा एक दूसरे को दबाने के भाव उत्पन्न हो गए और गृह-कलह के कारण दूसरे देश वालों ने इनको दबा लिया, अत दूसरों के अधीन होकर स्वय घृणा और तिरस्कार के पात्र हो गए। अब तक भी इस देश के अधिकतर लोगों में दूसरे देशों के प्रति ईर्षा, द्वेष, घृणा और परहेज के भाव बने हुए हैं और जब तक दूसरों के प्रति ये भाव बने रहेंगे तब तक आपस में भी ये ही सर्वनाशी भाव बने रहेंगे। इसलिए दूसरे देशवासियों के साथ भी मैत्री और प्रेम के भाव रखने चाहिए।

पाँचवीं श्रेणी (देव वर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

इस श्रेणी के लोगों का आत्म विकाश अत्यन्त उन्नत होता है और इनका कार्यक्षेत्र सारे जगत तक विस्तृत हो जाता है अर्थात् ये लोग किसी प्रकार के जाति, वर्ण, धर्म एव देश के भेद भाव बिना प्राणी मात्र की सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। लोकहित के लिए अपने देश, समाज, कुटुम्ब और शरीर तक को त्याग देने को तैयार रहते हैं तथा दूसरों के कष्ट निवारण के लिए प्रसन्नता-पूर्वक स्वय कष्ट सहन कर लेते हैं। ये लोग मनुष्य देह में साक्षात् देवता हैं। जिस तरह परमात्मा की दैवी शक्तियाँ सारी चराचर सृष्टि का समान भाव से सञ्चालन करती रहती हैं, उसी तरह इस वर्ग के लोग समान भाव से भूत-प्राणियों की सेवा करते रहते हैं और अपने, अपने कुटुम्ब, जाति और देश के स्वार्थों को विश्व रूपी परमात्मा के अर्पण कर देते हैं। परन्तु सर्वभूतात्मैक्य आत्म ज्ञान के अभाव में जब तक इनमें यह द्वैत भाव बना रहता है कि "जगत मुझसे भिन्न है, मैं उसकी सेवा करता हूँ" और इस पृथकता के भाव से लोक-सेवा करते हुए यह अहङ्कार रहता है कि "मैं लोगों का उपकार करता हूँ, लोगों पर दया करके उनके दुःख मिटाता हूँ, यदि मैं ऐसा न करूँ तो लोग दुःख

पावेंगे" अथवा हीनता का यह भाव रहता है कि "मैं एक तुच्छ व्यक्ति हूँ, किसी के लिए कुछ कर नहीं सकता, इत्यादि' तब तक वे पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सकते। किन्तु जब तक द्वैत भावजन्य पृथक व्यक्तित्व का अहङ्कार बना रहता है तब तक कभी न कभी मोह के वश होकर पीछे गिरने की भी आशङ्का रहती है।

इसलिए इतने बढ़े हुए आत्म विकास एवं सारे विश्व की सेवा करने वाले देव-वर्ग के स्त्री पुरुषों को भी सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मुक्त होने के लिए सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता रहती है, अर्थात् उनको इस एकत्व भाव के अनुभवयुक्त जगत के व्यवहार करना चाहिए कि "सब मैं और यह सारा विश्व एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं, अत उनके साथ मेरी वास्तविक एकता है।"

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
—गी० अ० १८ ६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥
—गी० अ० १८ ६६

अर्थ—मुझमें मन रख कर मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर, मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा कर कहता हूँ कि इससे तू

मुझमें ही आकर मिलेगा, क्योंकि तू मेरा प्यारा भक्त है। भावार्थ यह है कि जो समष्टि आत्मा = परमात्मा को सब में एक समान व्यापक समझ कर—यानी सारा विश्व आत्मामय है, यह निश्चय करके—अपने व्यक्तित्व को सब में जोड़ देता है, सबके साथ अनन्य भाव से प्रेम करता है; सबके हित के लिए यज्ञ* करता है और सबकी सेवा करता है, वह—सबका प्यारा अर्थात् सबका आत्मा—निश्चय ही परमात्म स्वरूप हो जाता है, यानी वह अखिल विश्व का प्रेरक एवं नित्य मुक्त है।

सब धर्मों को छोड़ कर तू एक मेरी (सर्वात्मा = परमात्मा की) शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर। इसका भावार्थ यह है कि द्वैत भावजन्य सब धार्मिक (मजहबी) और साम्प्रदायिक एवं मत मतान्तर सम्बन्धी भेद भाव और विधि निषेध, पाप पुण्य, धर्म अधर्म, अच्छे बुरे, रीति रिवाज आदि में आसक्ति के बन्धन एवं ऊँच नीच, छोटे-बड़े, मान अपमान, वर्ण आश्रम आदि पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार को छोड़ कर एक (अद्वैत) समष्टि आत्मा = परमात्मा में अपने आपको जोड़ देने से अर्थात् सारे विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेने से किसी भी कर्म का बन्धन शेष नहीं रहता और न किसी प्रकार की चिन्ता ही बाकी रहती है। जब तक पृथकता के ये भाव रहते हैं कि मैं अमुक धर्म, मज़हब, मत या सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ; मेरा अमुक वर्ण, अमुक आश्रम, अमुक जाति व अमुक पद है, मैं अमीर हूँ, मैं ग़रीब हूँ, मैं कर्म करने वाला अलग हूँ, कर्म अलग है और जिससे तथा जिसके लिए कर्म

* यज्ञ का खुलासा प्रथम प्रकरण में देखिए।

करता हूँ वे अलग हैं एव अमुक कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा इत्यादि, तभी तक धर्माधर्म, पाप पुण्य आदि का बन्धन होता है, परन्तु अब सब में एक परमात्मा समान भाव से व्यापक जान कर सबके साथ एकता का विश्व धम स्वीकार कर लिया जाता है अर्थात् अपने पृथक व्यक्तित्व के भावों को सबसे एकता रूपी समष्टि भाव में लय कर दिया जाता है तो फिर बन्धन करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। अत सबके साथ एकता का अनुभव करने वाला वह महान् आत्मा ससार के सब व्यवहार करता हुआ भी सदा-सर्वदा मुक्त रहता है यानी स्वय ईश्वर रूप हो जाता है।

इस तरह सर्वत्र साम्य भाव मे स्थित एवं द्वैत बुद्धि से रहित होकर वे जीवनमुक्त कर्मयोगी सब भूत प्राणियो को अपने ही अङ्ग समझते हुए—अर्थात इस दृढ निश्चय से कि "सेवक, सेवा और सेव्य अथवा उपकारी, उपकार और उपकारय तीनो एक ही हैं यानी मैं आप ही अपनी सेवा अथवा उपकार करता हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है"—वे सबके हित (लोक-सग्रह) के व्यवहार करते रहते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥
—गी० अ० ६ २६

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
—गी० अ० ६-३०

अनेक रोगों को मिटाता है और दुरुपयोग
विष में परिणत होकर अनेक रोग उत्पन्न कर
तरह सदुपयोग से राजस तामस प्रतीत होने
भी सात्विक अर्थात लोक हितकर हो जाते
योग से सात्विक व्यवहार भी राजस-तामस
और बन्धन के हेतु बन जाते हैं। ससार
एकरस रहने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है।
त्रिगुणात्मक माया के इस खेल में किसी
स्वयं अपना अच्छापन या बुरापन नहीं है,
पन कर्त्ता की बुद्धि और उपयोग में है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः
—गी.

अर्थ—हे धनञ्जय ! बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म निकृष्ट हैं अर्थात् बुद्धि के उपयोग बिना कोरे कर्म से हो सकता—इसलिए तू बुद्धि की शरण में जा काम ले। (बुद्धि से काम न लेकर) केवल (स्थूल फल की इच्छा से कर्म करने वाले लोग कृपण अर्थात् होते हैं।

अतएव सात्विक और राजस-तामस
बुद्धि द्वारा सदुपयोग करना चाहिए। बुद्धि से का

अर्थात् सूक्ष्म विचार के बिना—केवल शास्त्रों के रोचक, भयानक वचनों में ही अन्धश्रद्धा रख कर—अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए व्यवहार करने से कई अवसरों पर साधारणतया सात्विक प्रतीत होने वाले व्यवहारों से अनर्थ हो जाता है और कई अवसरों पर साधारणतया राजस-तामस प्रतीत होने वाले व्यवहार न करने से अनर्थ हो जाता है।

परन्तु यह बुद्धि सात्विक ज्ञानयुक्त अर्थात् आत्मनिष्ट होनी चाहिए।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

—गी० अ० १८-२०

अर्थ—जिससे विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न सब भूत प्राणियों में एक ही अविभक्त अर्थात् बिना बटा हुआ और अव्यय अर्थात् सदा एकरस रहने वाला भाव दीखता है अर्थात् सर्वत्र एक आत्मतत्त्व ही दीखता है—वह सात्विक ज्ञान है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

—गी० अ० २-४१

अर्थ—व्यवसायात्मिक अर्थात् निश्चयात्मिक बुद्धि एक ही है। जिनका एक निश्चय नहीं उनकी बुद्धि में अनन्त वासनाएँ

अनेक रोगों को मिटाता है और दुरुपयोग से अ
विप में परिणत होकर अनेक रोग उत्पन्न कर देता है,
तरह सदुपयोग से राजस तामस प्रतीत होने वाले व्य
भी सात्विक अर्थात् लोकहितकर हो जाते हैं और
योग से सात्विक व्यवहार भी राजस-तामस होकर
और बन्धन के हेतु बन जाते हैं। संसार में सदा
एकरस रहने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है। परमात्
त्रिगुणात्मक माया के इस खेल मे किसी भी व्यवह
स्वयं अपना अच्छापन या बुरापन नहीं है, अच्छा
पन कर्त्ता की बुद्धि और उपयोग मे है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः ॥

—गी०

अर्थ—हे धनञ्जय ! बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म (
निकृष्ट हैं अर्थात् बुद्धि के उपयोग बिना कोरे कर्म से कुछ
हो सकता—इसलिए तू बुद्धि की शरण में आ अर्थात्
काम ले। (बुद्धि से काम न लेकर) केवल (स्थूल शरीर के
फल की इच्छा से कर्म करने वाले लोग कृपण अर्थात्
होते हैं।

अतएव सात्विक और राजस-तामस
बुद्धि द्वारा सदुपयोग करना चाहिए। बुद्धि से काम न

अर्थ—परन्तु जो प्रकृति (माया) से भी परे, अव्यक्त (सूक्ष्म) से भी अव्यक्त (सूक्ष्म) और सनातन (सदा इकसार रहने वाला) भाव अथवा तत्त्व है उसका सब भूत प्राणियों के नाश (लय) होने पर भी नाश नहीं होता और यही अन्तिम गति है।

अतः स्थूलता का उल्लङ्घन करके बुद्धि को सूक्ष्म तात्त्विक विचारों में बढ़ाते-बढ़ाते ही अन्त में वह आत्मनिष्ठ होती है और उस आत्मनिष्ठ बुद्धि से यथार्थ निर्णय होकर, सबके साथ एकता के अनुभवयुक्त व्यवहार ही पूर्ण रूप से सात्विक हो सकते हैं। स्थूल आधिभौतिकता में ही लीन रहने से ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं। परन्तु बहुत ही थोड़े लोग सूक्ष्म विचार करने का प्रयत्न करते हैं और उनमें भी कोई विरला ही दीर्घ काल के अभ्यास के बाद असली तत्त्व (सर्वभूतात्मैक्य भाव) की पूर्णावस्था तक पहुँचने में सफलता प्राप्त करता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

—गी० अ० ७ ३

अर्थ—हज़ारों मनुष्यों में से कोई विरला ही सिद्धि पाने अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में से कोई विरला ही मुझ (समष्टि आत्मा = परमात्मा) को यथार्थ जान सकता है।

आधिभौतिक दृष्टि से कदापि नहीं। स्थूल=मोटे विचारों से सूक्ष्म=महीन विचार अधिक सच्चे और मान्य होते हैं। स्थूल बुद्धि के व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक आदि सभी विषयों में, सूक्ष्म बुद्धि के व्यक्तियों की आज्ञा में रह कर उनके अनुयायी होते हैं, यह प्रत्यक्ष ही है। जितना ही अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाता है उतना ही अधिक सत्य के नजदीक पहुँचा जाता है। स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थ अधिक मूल्यवान् और ग्राह्य होते हैं। प्रत्येक स्थूल पदार्थ का सूक्ष्म सार ही उसका सत्व अथवा तत्त्व होता है और तत्त्वों का सूक्ष्म विचार ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। जितना ही अधिक सूक्ष्मता में बढा जाता है उतना ही अधिक अनैक्य की एकता होती जाती है और बढ़ते-बढते जब अन्त में सब अनैक्य मिट कर केवल एक तत्त्व ही रह जाता है वही आत्मा=परमात्मा है। अतएव जहाँ तक बुद्धि काम करे सूक्ष्मता में बढ़ते जाना चाहिए, जब तक कि पराकाष्ठा (हद दर्जे) की सूक्ष्मता अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आत्मा=परमात्मा की एकता के अनुभव तक न पहुँचा जाय। आत्मा-परमात्मा सूक्ष्म का भी सूक्ष्म और सत्य का भी सत्य है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातन ।
य स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

अर्थ—परन्तु जो प्रकृति (माया) से भी परे, अव्यक्त (सूक्ष्म) से भी अव्यक्त (सूक्ष्म) और सनातन (सदा इकसार रहने वाला) भाव अथवा तत्त्व है उसका सब भूत प्राणियों के नाश (क्षय) होने पर भी नाश नहीं होता और यही अन्तिम गति है।

अत स्थूलता का उल्लङ्घन करके बुद्धि को सूक्ष्म तात्त्विक विचारों में बढाते-बढाते ही अन्त में वह आत्मनिष्ठ होती है और उस आत्मनिष्ठ बुद्धि से यथार्थ निर्णय होकर, सबके साथ एकता के अनुभवयुक्त व्यवहार ही पूर्ण रूप से सात्त्विक हो सकते हैं। स्थूल आधिभौतिकता में ही लीन रहने से ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं। परन्तु बहुत ही थोड़े लोग सूक्ष्म विचार करने का प्रयत्न करते हैं और उनमें भी कोई विरला ही दीर्घ काल के अभ्यास के बाद असली तत्व (सर्वभूतात्मैक्य भाव) की पूर्णावस्था तक पहुँचने मे सफलता प्राप्त करता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत ॥
—गी० अ० ७ ३

अर्थ—हजारों मनुष्यों में से कोई विरला ही सिद्धि पाने अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में से कोई विरला ही मुझ (समष्टि आत्मा = परमात्मा) को यथार्थ जान सकता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

—गी० अ० ७ १९

अर्थ—बहुत जन्मों के अभ्यास के बाद, सूक्ष्म विचारों वाला ज्ञानवान व्यक्ति, यह जान लेने से—कि जो कुछ है सर्व वासुदेव परमात्मा ही है—मुझे प्राप्त हो जाता है अर्थात् मेरे साथ एकता का अनुभव कर लेता है। ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है।

ऐसे महान् व्यक्ति ही कर्मों के विषय में यथार्थ निर्णय करके ससार का व्यवहार यथायोग्य चलाने में समर्थ होते हैं और उन्हीं महान् व्यक्तियों के नेतृत्व मे जन-साधारण उनके अनुयायी होकर अपने अपने कर्त्तव्य कर्म यथायोग्य पालन कर सकते हैं, क्योंकि अधिकतर जन-समाज की तमोगुण प्रधान प्रकृति होने के कारण उनकी स्थूल कर्मों ही में आसक्ति रहती है, सूक्ष्म विचारों में प्रवेश करने की तथा सूक्ष्म तत्त्वों के समझने की उनमे योग्यता बहुत ही कम रहती है। इसलिए तत्त्वदर्शी महात्मा उन लोगों को, यथायोग्य स्थूल रीति से ही उनके कर्त्तव्य समझाने और उनसे श्रेष्ठ आचरण करवाने तथा बुरे व्यवहार छुड़वाने के लिए, साधारणतया सात्विक तथा राजस-तामस व्यवहारों के स्थायी भेद करके उनके आधार पर देश, काल और पात्र की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर विधि निषेध की

मर्यादाएँ बाँध दिया करते हैं। वे विधि निषेध की मर्यादाएँ ही साधारण लोगो का धर्म हो जाता है और साधारणतया उनके अनुसार आचरण करके वे लोग अपनी उन्नति करते हैं। यदि तत्त्वदर्शी महात्मा लोग स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए समय-समय पर यथोचित मर्यादाएँ न बाँध कर—उन्हे केवल तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर ही—व्यवहार करने में सर्वथा स्वतन्त्र कर दें तो—तात्त्विक मर्म को समझने की योग्यता न होने के कारण—वे तामसी बुद्धि के लोग अर्थ का अनर्थ करके विपरीत आचरणों द्वारा ससार का व्यवहार सर्वथा बिगाड़ दें।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
—गी० अ० १८ ३२

अर्थ—तमोगुण से व्याप्त जो (बुद्धि) अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानती है और सब पदार्थों को विपरीत समझती है वह तामसी बुद्धि है।

प्रकृतेर्गुणसमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
—गी० अ० ३ २९

अर्थ—हे अर्जुन ! प्रकृति के गुणों के वश में हुए मूढ़ (अज्ञानी) और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं, उन स्थूल बुद्धि के

अज्ञानीजनों को तत्त्वदर्शी महात्मा (मर्यादा के अनुसार कर्म करने से) विचलित न करे।

परन्तु जैसे कि पहिले कहा जा चुका है, वास्तव में व्यवहारों का सात्विक और राजस-तामस भेद सदा सर्वदा इकसार नहीं रहता, फलत उनके आधार पर बँधी हुई विधि निषेध की मर्यादाएँ भी सदा सर्वदा स्थायी रूप से हितकारक एवं सुखप्रद नहीं रह सकतीं। इसलिए तत्त्वदर्शी महात्मा लोग, साधारण लोगों को सात्विक तथा राजस तामस प्रतीत होने वाले व्यवहारों तथा उनके आधार पर बँधी हुई विधि निषेध की मर्यादाओं पर ही सदा सर्वदा कट्टरता से पाबन्दी नहीं रखते, किन्तु अपनी आत्म-निष्ठ सात्विक बुद्धि द्वारा अर्थात् अध्यात्म विचारों से, देश काल और पात्र की परिस्थिति के अनुसार, आवश्यकता होने पर उनमें परिवर्तन करके, अथवा नवीन मर्यादाएँ बाँध कर ससार के व्यवहार किया करते हैं। ऐसा करने से लौकिक दृष्टि से चाहे वे व्यवहार अच्छे प्रतीत हों या बुरे, अथवा प्रचलित मर्यादाएँ रहें या टूटें, इसकी वे कुछ भी परवाह नहीं करते। ऐसे अवसरों पर उन महान् पुरुषों के आचरण ही धर्म या मर्यादा बन जाते हैं और साधारण जनता उन बड़े लोगों के पीछे चला करती है। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी (जीवनमुक्त) महान् पुरुष ही अपने सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान से पूर्णतया सात्विक व्यवहार कर

सकते हैं तथा साधारण लोगों को यथायोग्य सात्विक आचरण करने में प्रवृत्त कर सकते हैं, और साधारण लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार—उन आत्मज्ञानी महात्माओं द्वारा निर्णीत—सात्विक व्यवहारों के आधार पर बँधी हुई विधि-निषध की मर्यादाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करके तथा उन महान् पुरुषों का अनुकरण करके दीर्घ काल के अभ्यास के बाद सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति पा सकते हैं। साराश यह कि एक तरफ़ तो आत्मज्ञान से सात्विक आचरण होते हैं और दूसरी तरफ़ सात्विक आचरणों से आत्मज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् आत्मज्ञान एवं सात्विक आचरण भी परस्पर में एक दूसरे के कार्य कारण अथवा उपकारी उपकार्य अर्थात् अनन्योश्रित हैं। इसलिए जनता का नेतृत्व करने वाले बड़े लोगों का कर्त्तव्य है कि सूक्ष्म विचारों को बढाते बढाते आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्मनिष्ट साम्य बुद्धि द्वारा ससार के व्यवहार करते हुए साधारण लोगों को आदर्श दिखावें।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

—गी० अ० ३ २१

अर्थ—श्रेष्ठ अर्थात् महान् व्यक्ति जो कुछ करता है वही अन्य साधारण लोग भी करते हैं ; वह जिसे प्रमाण मान कर स्वीकार करता है लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

अत जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग अपनी इस जिम्मेदारी को अच्छी तरह पूरी करते हैं वह समाज, राष्ट्र व देश उन्नति करता है और जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग अपनी—इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी को भूल कर—स्थूलता में ही लीन रहते हैं अर्थात् केवल स्थूल शरीरों के व्यक्तिगत स्वार्थ को ही सब कुछ मानते हैं, उस समाज, राष्ट्र व देश का पतन अवश्य होता है। जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग जितने ही अधिक सूक्ष्म विचार वाले होते हैं, उतना ही अधिक वह समाज, राष्ट्र व देश उन्नति करता है और जिस समाज, राष्ट्र व देश के नेता लोग जितने ही स्थूल विचार वाले होते हैं, उतना ही अधिक उस समाज, राष्ट्र व देश का पतन होता है।

अब पृथक-पृथक भावों का किस अवस्था में, किस तरह प्रयोग करने से व्यवहार सात्विक अथवा राजस-तामस होते हैं—इसका कुछ खुलासा (स्पष्टीकरण) सन्क्षेप में करने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाता है। यह स्पष्टीकरण "सब भूत प्राणियों की एकता सच्ची है"—इस निश्चययुक्त, व्यवसायात्मिका बुद्धि से किए जाने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के व्यवहार सच्चे, यानी सात्विक और अनन्त प्रकार की भूठी पृथकता को सच्ची मानने वाली भेद-बुद्धि से किए जाने वाले व्यवहार मिथ्या, यानी राजस-तामस मानने के मूल सिद्धान्त पर किया गया है।

साधारणतया सात्विक प्रतीत होने वाले व्यवहारों का खुलासा
(स्पष्टीकरण)

प्रेम

समस्त भूत प्राणी एक सत् चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा के ही अनेक नाम और रूप हैं, वस्तुत: एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस सर्वभूतात्मैक्य भाव से सबके साथ स्वाभाविक प्रेम करना, दूसरों के सुख दुख अपने समान समझना; अपनी तरफ से किसी से भी द्वेष का भाव नहीं रखना, सभी सुखी हों, सभी सन्मार्ग पर चलें, सभी उन्नति करें, सबके प्रति इस तरह की सद्भावना रखना—यह सच्चा अर्थात् सात्विक प्रेम है। परन्तु विशेष व्यक्तियों एवं उनके भौतिक शरीरों के प्रेम में आसक्त होकर, उनके साथ यथायोग्य व्यवहार न करना अथवा अपने कर्त्तव्यों में त्रुटि करना अथवा उनसे यथायोग्य काम न लेना अर्थात्—इस विचार से कि उनका उपयोग करने से उनका शारीरिक परिश्रम या कष्ट होगा—उनसे अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन करवाने की उपेक्षा करना अथवा किसी के परोक्ष के अधिक सुख प्राप्ति के निमित्त, प्रयत्न में होने वाले थोड़े से

शारीरिक दुःख को भी, भौतिक प्रेम के वश होकर, सहन न करना—यह मिथ्या प्रेम है। भौतिक शरीरों तथा विशेष व्यक्तियों में प्रेम की आसक्ति, मोह में परिणत होकर कईयों के प्रति राग और कईयों से द्वेष उत्पन्न कर देती है जिससे बड़ी दुर्गति होती है। अर्जुन को भी भौतिक शरीरों तथा विशेष व्यक्तियों में प्रेम की आसक्ति होकर मोह उत्पन्न हो गया था, जिससे उसकी बड़ी बुरी दशा हो गई थी और जिसको मिटाने के लिए ही भगवान ने उसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का उपदेश दिया।

आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के, जगत् रूपी, इस खेल में नाना प्रकार के भूतप्राणी होते हैं और उनका परस्पर में नाना प्रकार का सम्बन्ध होता है, अतः उनमें आपस में प्रेम का बर्ताव भी अपनी अपनी योग्यता और परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से होता है, अर्थात् बड़ों के साथ छोटों का प्रेम का बर्ताव भक्ति के रूप में, छोटों के साथ बड़ों का प्रेम का बर्ताव वात्सल्य के रूप में, बराबरी वालों से स्नेह के रूप में, अपने से हीन स्थिति वालों से अनुग्रह के रूप में, दुखियों के साथ दया, सुखियों से मित्रता, सज्जनों से मुदिता और दुराचारियों से उपेक्षा के रूप में—प्रेम का बर्ताव होता है। इन सबका पृथक् पृथक् स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

ईश्वर-भक्ति

सारे विश्व का समष्टि भाव अर्थात् सब भूत प्राणियों का एकत्व ही ईश्वर है यानी एक ईश्वर समस्त चराचर भूत प्राणियों मे एक समान व्यापक है—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है—इस निश्चय से, जगत को ही जगदीश्वर समझ कर, सब चराचर भूत प्राणियो के साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करना, अपने व्यक्तित्व को जगत रूपी जगदीश्वर के साथ जोड़ कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत् रूपी जगदीश्वर के अर्पण करके संसार के व्यवहार करना, कोई भी कार्य करने मे सबके आत्मा ईश्वर की सर्वव्यापकता को नहीं भूलना, किसी के साथ भी विपरीत बर्ताव न करना, अपनी तरफ से किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा या तिरस्कार का बर्ताव न करना और किसी की किसी प्रकार की हानि न करना, अपनी शक्ति और योग्यतानुसार लोक सेवा करना—यह सच्ची ईश्वर-भक्ति है, अर्थात् विश्व-प्रेम ही सच्ची ईश्वर-भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय मे भगवान ने अपने विराट रूप में अर्जुन को सब चराचर सृष्टि दिखा कर कहा कि "भेद बुद्धि से वेदाध्ययन, तप, दान और हवन-यज्ञ आदि करने से—जगत् के एकत्व भाव—मेरे इस विश्वरूप को कोई नहीं देख सकता, किन्तु अनन्य भक्ति अर्थात् सबके साथ एकत्व भाव के प्रेम से ही

मैं (अपने इस रूप में) देखा एवं जाना जा सकता हूँ और इसीसे मेरे साथ एकता हो सकती है। अत जो सबके लिए कर्म करते हैं, सब से एकता रखते हैं, अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों को जो सबके साथ जोड देते हैं और किसी भी भूतप्राणी से वैर नहीं करते, वे सब से प्रेम करने वाले मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।" इस पर अर्जुन ने शङ्का की कि "इस विश्व-प्रेम रूपी आपकी सगुण उपासना करने वाले तथा जगत का तिरस्कार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले—भक्तों में से श्रेष्ठ योगी कौन है?" इसके उत्तर में भगवान ने कहा —

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

—गी० अ० १२ २

अर्थ—जो पराश्रद्धा अर्थात् सब में एकत्व भाव की सात्विक श्रद्धा से (जगत को जगदीश्वर जान कर) मेरे इस सगुण स्वरूप वाली विश्व की एकता में, अपने मन को निरन्तर जोड़ कर, मेरी उपासना करते हैं, उन भक्तों को मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

साराश यह कि विश्व के साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार ही सच्ची ईश्वर भक्ति है। और मन को इस प्रकार की एकता में जोड़ने अर्थात् एकाग्र करने के अभ्यास के

लिए—किसी स्थान विशेष में स्थित होकर अथवा किसी मूर्ति, चित्र अथवा दूसरे किसी चिन्ह या नाम विशेष में ईश्वर-बुद्धि करके निःस्वार्थ भाव से पूजन, अर्चन, स्मरण, कीर्तन, मन्त्र, स्तुति आदि से—निराकार अथवा साकार ईश्वर के गुणों का चिन्तन करते रहना तथा सभी स्थानों, मूर्तियों, चित्रों, चिन्हों और नामों में एक ही ईश्वर की सर्वव्यापकता का लक्ष्य रखना—यह भी साधनावस्था की अर्थात् प्रारम्भिक ईश्वर-भक्ति है। यह प्रथमावस्था की ईश्वर भक्ति उपरोक्त सभी ईश्वर-भक्ति का साधन मात्र है। जिस तरह विद्यार्थी विद्या प्राप्त करने के लिए, प्रथम वर्ण शिक्षा से आरम्भ करके—उसके साधन से—आगे उच्च शिक्षा प्राप्त करता है, परन्तु जब वह ऊपर की कक्षा में पहुँच जाता है तो वर्ण शिक्षा का अभ्यास पीछे छोड़ देता है, अथवा जिस तरह छोटी आयु की कन्याएँ, गुड़ियों के खेल द्वारा गृहस्थ की शिक्षा प्राप्त करती हैं, परन्तु जब वे बड़ी होकर गृहस्थिन बनती हैं तब गुड़ियों का खेल छोड़ देती हैं, उसी तरह, यद्यपि विश्व प्रेम रूपी ईश्वर-भक्ति में मन को जोड़ने की शिक्षा के लिए प्रतीक उपासना—किसी स्थान विशेष में अथवा किसी मूर्ति, चित्र तथा अन्य चिन्ह अथवा किसी नाम विशेष पर लक्ष्य कर—करना आवश्यक है, परन्तु इस प्रतीक उपासना का उद्देश्य केवल प्रारम्भिक अवस्था में मन को एकाग्र करने के अभ्यास तक ही परिमित रहना

चाहिए, न कि जन्म भर इसी में लगे रहने के लिए। यदि इसी को सच्ची अर्थात् पराकाष्ठा की ईश्वर भक्ति मान कर सारी आयु इसी में बिता दी जाय तो—वह मिथ्या ईश्वर भक्ति है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

—गी० अ० १८-२१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

—गी० अ० १८-२२

अर्थ—जिस पृथकता के ज्ञान से सम्पूर्ण भूत प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नानात्व को (लोग) सत्य मानते हैं—उस ज्ञान को तू राजस जान।

और जिस ज्ञान से किसी एक ही कार्य को सब कुछ मान कर (लोग) उसमें आसक्त रहते हैं तथा जो युक्ति अथवा तात्विक विचार से सर्वथा रहित हैं—वह तुच्छ ज्ञान तामस कहा गया है।

तात्पर्य्य यह कि ईश्वर को किसी स्थान, मूर्ति, चित्र, चिन्ह अथवा किसी नाम व गुण विशेष ही में सीमाबद्ध मान कर तथा इन्हीं की उपासना को ईश्वर-भक्ति की परमावधि समझ कर, जन्म भर उसी में लगे रहना और इनके अतिरिक्त दूसरे भूत प्राणियों में ईश्वर की सर्वव्यापकता

की उपेक्षा करके अथवा उनको ईश्वर से भिन्न मान कर, उनसे ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के व्यवहार करते रहना, इस तरह की उपासना में निरन्तर लगे रह कर अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करना, लोगों के साथ विपरीत व्यवहार करना, किसी को कष्ट देना, किसी की हानि करना, अपने व्यक्तिगत भोग विलास की कामना से अथवा लोगों में कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने के लिए दम्भ से पूजा-पाठ आदि में लगे रह कर ईश्वर-भक्त होने का अहङ्कार करना, अथवा नाना ईश्वर मान कर उनमें भेद भाव की कल्पना करके झगड़े खड़े करते रहना अथवा किसी स्थान विशेष या काल विशेष में रहने वाले किसी विशेष शक्ति सम्पन्न एवं विशेष गुणों वाले व्यक्तित्व में ईश्वर की कल्पना करके, अपने बुरे कर्मों के दुष्परिणामों एवं विपत्तियों से बचने तथा किसी प्रकार की अर्थ सिद्धि के लिए, उसकी खुशामद (प्रार्थना स्तुति आदि) करना और अपनी शरीर यात्रा का सब बोझ उसके सिर लाद कर आप निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी बन जाना—यह ईश्वर-भक्ति नहीं किन्तु ईश्वर का तिरस्कार है अर्थात् नास्तिकता है।

राज्य-भक्ति

नराणां च नराधिपम् ।

—गी० अ० १० २७.

करते हैं, वे किसी के भी शासन में रह कर, किसी भी नियम और क़ानून की पाबन्दी रखना नहीं चाहते और कोई किसी के अधीन न रह कर सब कोई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते हैं। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो दोनों ही पक्ष अपने-अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों ही को प्रधानता देते हैं। यद्यपि जगत के व्यवहार अच्छी तरह नियम-बद्ध, सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राज्य सत्ता का होना अत्यावश्यक है, परन्तु वही राज्य सत्ता सबके लिए हितकर हो सकती है जिसकी प्रजा के साथ एकता हो अर्थात् जिसने अपने व्यक्तित्व को प्रजा के व्यक्तित्व में मिला दिया हो और अपने स्वार्थों को प्रजा के स्वार्थों के अन्तर्गत कर दिया हो। जिसमें दैवी सम्पद के गुण—बुद्धि, बल और प्रेम की अर्थात् एकतापूर्ण युक्ति और शक्ति की (केवल कल्पना Theoritical ही नहीं, किन्तु व्यावहारिक Practical) अधिकता होती है वही शासन कर सकता है, चाहे ये गुण किसी व्यक्ति विशेष में हों या किसी जाति विशेष में अथवा किसी देश विशेष के निवासियों में, जिनमें ये सात्विक गुण अधिक होते हैं वे इन गुणों की कमी वाले लोगों पर शासन करते हैं और जिनमें इन गुणों की कमी होती है वे इन गुणों की अधिकता वाले लोगों से शासित होते हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—गी० अ० १८ ७८

अर्थ—जहाँ सबकी एकता का केन्द्र योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं अर्थात् जहाँ सबका ऐक्य है और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है अर्थात् जहाँ युक्ति सहित शक्ति है, वहाँ निश्चयपूर्वक श्री यानी राज्य लक्ष्मी; विजय, ऐश्वर्य और नीति है—यह मेरा निश्चित मत है।

जो लोग इन गुणों के बिना शासक बने रहना चाहें—वे कदापि सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। जब किसी शासक में ऐक्य के प्रेम भाव युक्त युक्ति और शक्ति की कमी आ जाती है तब वह अपनी सत्ता कायम रखने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न करे, उसकी सत्ता कदापि क़ायम नहीं रह सकती। इसी तरह जब तक शासित लोगों में इन गुणों की कमी रहती है तब तक उनको इन गुणों की अधिकता वालों के अधीन रहना ही पड़ता है चाहे वे शासक के साथ प्रेम (भक्ति) पूर्वक रहें या उससे द्वेष रखते हुए। प्रेम-पूर्वक रहने से आपस की एकता के भाव उत्पन्न होकर बुद्धि और बल जल्दी सङ्गठित हो सकते हैं जिससे पराधीनता से छुटकारा मिल सकता है। परन्तु द्वेष करने से अनैक्य (फूट) बढ़ती है जिससे बुद्धि और बल का ह्रास होता है, फलतः पराधीनता बनी रहती है।

मातृ-पितृ भक्ति

समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए मातृ पितृ भक्ति आवश्यक है, क्योंकि जिस तरह माता पिता अपनी सन्तानों का, गर्भ से लेकर बड़े होने तक पालन-पोषण, रक्षण शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ भाव से—करते हैं तभी सन्तान ससार के व्यवहार करने योग्य बनते हैं, उसी तरह, वृद्धावस्था में शरीर शिथिल हो जाने पर माता पिता की सेवा-शुश्रूषा, पालन-पोषण आदि एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ भाव से, सन्तान करे तभी वे लोग शान्तिपूर्वक अपना जीवन यापन कर सकते हैं और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और दूसरों के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता है। अतः माता पिता की सेवा शुश्रूषा एवं आदर-सत्कार निःस्वार्थ भाव से, अपना कर्त्तव्य समझ कर करना, अपने सात्विक व्यवहारों से उनको सुख देना, अपने राजसी-तामसी व्यवहारों तथा विषय भोगों के लिए उनको कदापि कष्ट न देना तथा उनका कभी अपमान न करना, उनकी उचित आज्ञाओं का पालन करना, उनको सद्गति प्राप्त होने वाले व्यवहारों में सहायक होना तथा उनकी वृद्धावस्था मे आदर सहित पालन-पोषण करना—यह सच्ची मातृ पितृ भक्ति है। परन्तु सात्विकता के विरुद्ध पड़ने वाली माता पिता की राजसी-तामसी भावों की

आज्ञाओं को अन्ध-श्रद्धा से, केवल इसलिए मानना कि माता पिता की आज्ञाएँ मानना हर हालत में उचित ही है, उनको उचित सम्मति न देना, उनकी रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन करने वाले व्यवहार करना, उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फँसे रह कर उनके सच्चे आत्मिक सुख पर दुर्लक्ष्य रखना अथवा उनकी जीवित काल में अवज्ञा करते रह कर मरने के बाद उनके लिए रोना चिल्लाना, शोक करना तथा क्रिया-कर्म-श्राद्ध आदि लोक दिखावे के बड़े-बड़े राजसी-तामसी आडम्बर करके स्वय क्लेश उठा कर मृतक को भी क्लेश पहुँचाना—यह मातृ पितृ-भक्ति नहीं—मातृ पितृ-द्रोह है।

माता-पिता का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से ही है, अत मातृ-पितृ-भक्ति में इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि जिससे आत्मिक उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचे। भक्त प्रह्लाद का दृष्टान्त इस विषय में प्रसिद्ध है।

गुरु-भक्ति (आचार्योपासना)

विद्या पढा कर सूक्ष्म विचारों में प्रवृत करने वाले तथा सत्य ज्ञान के देने वाले, श्रेष्ठ आचरण युक्त, सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार, भरण-पोषण करना तथा उसकी दी हुई विद्या तथा ज्ञान का सदुपयोग करना यह सच्ची गुरु-भक्ति है। परन्तु ऐसे सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा,

भरण-पोषण आदि न करके तथा उसके उपदेशानुसार आचरण न करके केवल उसके भौतिक शरीर को ही ईश्वर तुल्य मान कर उसका पूजन, अर्चन और स्पर्शादि करने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य मानना तथा मूर्ख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एव धूर्त—वश परम्परागत तथा साम्प्रदायिक—गुरुओं से केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बँधवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेते हुए, केवल अन्धविश्वास से उनकी आज्ञाओं का पालन करना, उनके मुख से निकले वचन ही प्रमाण मानना, उनके घेरे के पशु बन जाना और ऐसे कुपात्र गुरुओं का आदर-सत्कार, भेंट पूजा करके उनका गौरव बढ़ाना एवं सब कुछ उनके अर्पण करके उनके दुराचारों में सहायक होना—गुरु-भक्ति नहीं, गुरु द्रोह है।

सद्गुरु अपने शिष्यों को—नि स्वार्थ प्रेम भाव से उनकी आत्मिक उन्नति के लिए—सत्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, अत वे आधिभौतिक शरीर के अर्चन पूजन आदि से तथा आर्थिक भेंट-पूजा और भोग्य सामग्रियों से सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु उनके उपदेशों को धारण करके उनके अनुसार आचरण करने द्वारा अपनी आत्मिक उन्नति करने से सन्तुष्ट होते हैं।

पति-भक्ति (पातिव्रत्य)

नारी अखिल विश्व को अपने गर्भ में धारण करती है, अत साधारणतया उसमें अपने जोड़े नर की अपेक्षा

रजोगुण की विशेषता होना स्वाभाविक है और नर में नारी की अपेक्षा साधारणतया सतोगुण की विशेषता होना आवश्यक है, इसलिए साधारणतया पुरुष का पद स्त्री से बड़ा होता है अर्थात् वह उसका पूज्य होता है और स्त्री को ऐसे पुरुष के संरक्षण मे रहना और उसकी अनुगामिनी होना उचित है। पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री और बालकों के भरण-पोषण के लिए बाहिर से आजीविका उपार्जन करके लाना है और स्त्री का कर्त्तव्य गृहस्थी का सब काम सम्पादन करना तथा सन्तानों का पालन-पोषण करना आदि है। दोनों के परस्पर में एकता के प्रेम भाव से अपने-अपने जिम्मे के काम बराबर करने ही से जगत का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है और इसलिए स्त्री को पति-भक्त होना आवश्यक है।

अत अपने-अपने समाज के नियमानुसार, सद्भावना से नियत किए हुए योग्य पति के साथ अनन्य प्रेम रखना अर्थात् उसके सिवाय दूसरे किसी पुरुष से स्त्री पुरुष के सहवास सम्बन्धी प्रीति न रखना, अपना व्यक्तित्व उसमें जोड़ देना, तन, मन और वचन से उसका कोई अहित न करना, अपने मन की चञ्चलता से वस्त्राभूषण, विषय-भोग, धर्म-पुण्य, तीर्थ-व्रत आदि में समय, शक्ति और धन का इतना व्यय न कराना कि उनके लिए उसको बहुत परिश्रम करना, कष्ट उठाना तथा अनुचित कर्म करना पड़े, उसके

व्यवसाय में सहायक होना, उसके सुख दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, हर्ष शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति को अपना ही समझना, घर गृहस्थी के काम अच्छी तरह करना, सात्विक भोजन तथा सेवा शुश्रूषा से उसके शरीर की रक्षा करना, मीठे वचनों तथा नम्र और सत्य व्यवहारों से उसको प्रसन्न रखना, कभी उससे छल, कपट और मिथ्या व्यवहार न करना और उसके साथ एक ताल-बद्ध होकर सात्विक व्यवहार तथा आत्मोन्नति के उपाय करना—यह सच्ची पति भक्ति है। परन्तु आततायी, मूर्ख, अज्ञानी, कर्त्तव्य विमुख, हृदय-हीन, स्वार्थी माता पिताओं आदि द्वारा नियत किए हुए क्रूर प्रकृति के दुष्ट, दुराचारी, प्रमादी, गुण हीन, अयोग्य और बेजोड़ पति से ही यावज्जीवन बँधे रह कर, आत्मा के विरुद्ध, उसकी अनुचित आज्ञाओं का अन्धविश्वास से पालन करते रहना और हृदय में प्रेम के भाव हुए बिना ही लोक-दिखावे के ऊपरी प्रेम का ढोंग करके उसको प्रसन्न करने के लिए, अपनी आत्मा के पतन करने वाले व्यवहार करते हुए इस देव दुर्लभ मनुष्य-जन्म का वास्तविक लाभ न उठा कर इसे वृथा गँवा देना, पति के निरङ्कुशतायुक्त अत्याचारों को चुपचाप सहन करते रहना, पति के शरीर की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार तथा उससे प्रीति आदि के पति-भक्ति के व्यवहार करते रहने और उसके विदेश गमन पर खूब मोह करने पर भी अपने रजोगुणी विषय-सुख

तथा वस्त्र-आभूषणों आदि के लिए उससे इतना व्यय करवाना कि वह जन्म भर आर्थिक कष्ट पाता रहे और मानसिक चिन्ता से ग्रस्त रहे, उसके जीवित रहते उससे वास्तविक प्रेम न होते हुए भी उसके मरने पर उसके लिए अत्यन्त रोना-चिल्लाना और शोक करते रहना तथा हठपूर्वक भूख-प्यास, शीतोष्ण आदि द्वारा कष्ट सहन करके शरीर को सुखा कर अपनी आत्मा को तथा (सर्वभूतामैक्य सम्बन्ध से) मृत पति की आत्मा को भी क्लेश देना और बलात् वैधव्य रख कर अपने मनुष्य-जीवन के स्वभाव सिद्ध अधिकारों को भी, अप्राकृतिक पति-भक्ति की अन्ध-श्रद्धा से कुचल डालना एवं शरीर के प्राकृतिक वेगों के सहन न कर सकने पर—धर्मपूर्वक पुनर्विवाह न करके—कुमार्ग में प्रवृत्त होना—यह पति-भक्ति नहीं, किन्तु पति-द्रोह है।

पति पत्नी का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीरों का है और वह सम्बन्ध यहाँ ही जोड़ा जाता है यानी स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक वेगों की मर्य्यादित रूप से शान्ति के लिए तथा एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, एक दूसरे की सहायता से मनुष्य-देह के वास्तविक ध्येय = सच्चे आत्मसुख प्राप्त करने के प्रयत्न में अग्रसर होने के लिए और साथ ही साथ समाज को सुव्यवस्थित रख कर पतन से बचाने के लिए, एक स्त्री का एक पुरुष के सहवास में जीवन-यात्रा करने के नियम, प्रत्येक सभ्य समाज में अपनी

अपनी परिस्थिति के अनुकूल बने हुए हैं और उन नियमों के अनुसार जो सम्बन्ध जोड़े जाते हैं—उनको विवाह कहते हैं। विवाह का दूसरा अधिक महत्व का प्रयोजन यह है कि पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है और एक दूसरे के सुख-दुःख आदि अपने हो जाते हैं, अत अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर सब से एकता करने के सर्वोत्तम भाव के अभ्यास में यह सब से बड़ा सहायक है। परन्तु यह प्रयोजन तब ही सिद्ध हो सकता है जब कि दोनों तरफ़ से एक समान निस्वार्थ प्रेमयुक्त बर्ताव हो तथा विवाह के नियम ऐसे हों कि जिनमें एकतरफ़े स्वार्थ के भाव न हों अर्थात् जिनसे दोनो के स्वत्व और अधिकार यथायोग्य सुरक्षित रहें और जो देश, काल और व्यक्तियो की परिस्थिति के अनुसार सशोधित होते रहते हों। जब ऐसे नियम यथोचित रूप से पूरी तरह पालन किए जाते हैं तभी वे समाज को सुव्यवस्थित रख कर पतन से बचा सकते हैं। इसके विपरीत यदि एक के स्वार्थ के लिए दूसरे के अधिकारो को कुचलने के अन्यायपूर्ण एकतरफ़ा नियम बनाए जाते हैं, तो उस समाज का पतन अवश्य होता है।

वर्तमान मे हिन्दू समाज में विवाह के नियम एकतरफ़ा स्वार्थ के हैं। चाहे वे पहिले किसी ज़माने की परिस्थिति के

उपयुक्त रहे हों, परन्तु वर्तमान परिस्थिति के तो बिल्कुल ही प्रतिकूल हैं। इन नियमों के अनुसार स्वार्थी और मूर्ख अर्थलोलुप पिता, माता, भाई अथवा उनकी अनुपस्थिति में कोई भी ग़ैरज़िम्मेवार कुटुम्बी, लड़की को—चाहे जिस अवस्था में, चाहे जैसे अयोग्य व्यक्ति को, चाहे जब तथा अपना दिल चाहे जैसी स्वार्थ सिद्धि करके—दे डाले (क्योंकि यहाँ कन्या का विवाह नहीं होता, किन्तु पशुओं और जड़ पदार्थों की तरह कन्या का दान होता है) तो उसको बिना किसी प्रकार के उज्र के उस व्यक्ति की दासी ही नहीं, किन्तु जड़ पदार्थ की तरह उसकी भोग्य वस्तु होकर रहना पड़ता है और अन्त करण में उस व्यक्ति से घृणा रखते हुए भी आत्मा के विरुद्ध उससे प्रीति का स्वाँग करना पड़ता है तथा उसके दासत्व में अपना अमूल्य मनुष्य जीवन बिता देने के लिए मजबूर होना पड़ता है, सो भी उस व्यक्ति के जीवन-काल तक ही नहीं, किन्तु उसके मरने के बाद भी जब तक वह स्त्री जीवित रहे तब तक उसकी मिल्कियत होती है और बिना पति के पतिव्रत धर्म पालन का स्वाँग करना होता है। स्त्री के लिए तो उस पुरुष के साथ जन्म-जन्मान्तर पहिले का और जन्म-जन्मान्तर पीछे भी अनन्त काल तक का सम्बन्ध जुड़ा हुआ बताया जाता है, परन्तु पुरुष के लिए उस स्त्री के साथ इस जन्म में भी पक्का सम्बन्ध नहीं समझा जाता। उसके जीते जी अनेक स्त्रियाँ ब्याही जा

सकती हैं और अनेक बिना ब्याहे ही रक्खी जा सकती हैं—यदि वह कुछ ऐतराज करे तो कठोर सजा पाती है। यद्यपि गुलामी की प्रथा वर्तमान कानून में नाजायज है, परन्तु स्त्रियों की यह गुलामी वर्तमान क़ानून में भी जायज़ है, उनका इस गुलामी से उद्धार न तो कानून ही कर सकता है, न धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ, और न देश को गुलामी से मुक्त करने का दावा करने वाले लोग ही। इस राक्षसी व्यवहार को इस समाज के लोग "पति भक्ति" या "पतिव्रत धर्म" कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह पतिव्रत-धर्म नहीं, किन्तु उसकी विडम्बना और घोर अन्याय है।

स्वामि-भक्ति

संसार के व्यवहार सुव्यवस्थित चलाने के लिए नौकर का मालिक के प्रति पितृ-भाव और मालिक का नौकर के प्रति सन्तान-भाव रहना आवश्यक है, और अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों में जोड़ कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस सम्बन्ध से भी बढ़ता है, अतः शरीर और उसके सम्बन्धियों के पालन पोषण के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे, उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेमपूर्वक आदर और श्रद्धा के भाव रखना, जो सेवा स्वीकार की हो, उसको दत्तचित्त

होकर प्रसन्नता और तत्परता के साथ अच्छी तरह बजाना, स्वामी का कभी अहित-चिन्तन न करना, उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि को अपने ही तुल्य समझना, उसको हानि या व्यथा पहुँचे, ऐसा कोई काम न करना—यह सच्ची स्वामि-भक्ति है। परन्तु दुष्ट-दुराचारी, आततायी एवं मूर्ख स्वामी की आज्ञाओं का अन्ध विश्वास से पालन किए जाना, उसके अनुचित व्यवहारों में "हाँ में हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना अथवा उचित सम्मति न देना और उसके स्नेह के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से आत्मिक पतन कराने वाले कार्य करना—यह स्वामि भक्ति नहीं, किन्तु स्वामि द्रोह है।

वात्सल्य

अपनी पत्नी, सन्तान, प्रजा, सेवक, शिष्य आदि छोटे सम्बन्धियों से एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ भाव से, प्रेमपूर्वक उनके रक्षण-शिक्षण, पालन-पोषण आदि की सुव्यवस्था करके, उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी उन्नति के लिए सद्‌भावना युक्त प्रयत्न करते रहना, उनके सुख-दुःखों को अपने समझना, सदुपदेशों द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्मार्ग पर चलाना तथा उनसे अपने अपने कर्त्तव्य पालन करवाना और बुरे व्यवहारों, कुव्यसनों तथा विलासिता से उनको बचाना—यह सच्चा

वात्सल्य है। परन्तु छोटे सम्बन्धियों के भौतिक शरीरों के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन न करवाना, सुशिक्षा न दिलाना, कुमार्गों तथा अनर्थ करने से न रोकना, राजस-तामस आहार-विहार की आदत डालना, प्रत्यक्ष में उनको थोड़ा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम के बहुत सुख की उपेक्षा करना, उनसे उनके कर्त्तव्य पालन करवाने में असावधानी करना और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं, किन्तु निष्ठुरता है।

स्नेह

अपने बराबरी के स्नेहियों से एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ भाव से, प्रेमपूर्वक उनके साथ सद्व्यवहार करना, उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कष्ट निवारण में सहायक होना और अनिष्ट से बचा कर उनके सच्चे सुख तथा वास्तविक हित-साधन के लिए यत्न करना तथा उनके हित की सम्मति देना—यह सच्चा स्नेह है। परन्तु उनके स्नेह में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अप्रसन्नता के भय से उचित सम्मति आदि भी न देना, उनके अनुचित हानिकर व्यवहारों में साथ देना अथवा उनके स्नेह के वश स्वयं अनुचित कार्य करना—यह स्नेह नहीं, किन्तु मित्र द्रोह है।

वर्तमान समय में वैराग्य का व्यतिक्रम इतना हो गया है कि जिसका जी चाहे वह संसार के व्यवहारों से विमुख होकर साधु, फ़क़ीर, यति, ब्रह्मचारी और वैष्णव-वैरागी आदि का भेष ले लेता है। यही नहीं, किन्तु बहुत से बालकों को बाल्यावस्था ही में साधु आदि के बाने (स्वाँग) दे दिए जाते हैं और कइयों को तो जन्मते ही उनके माता पिता, साधु आदि नामधारियों की भेंट कर देते हैं। इनमें लड़के लड़की दोनों ही होते हैं। भला उस अवस्था में वे लोग त्याग वैराग्य का प्रयोजन क्या जान सकते हैं? इन नामधारी साधु, फ़क़ीर, यति, ब्रह्मचारियों, वैष्णव वैरागियों आदि की संख्या इतनी बढ़ गई है कि इन लोगों की अगणित सम्प्रदाएँ बन गई हैं। इनमें वास्तविक त्याग-वैराग्य का तत्व जानने वाले तो विरले ही महात्मा होते हैं, शेष जगत व्यवहार से विमुख होकर प्रमाद, आलस्य और दुराचार में आयु बिताते हुए समाज पर बोझ-रूप हो रहे हैं और वे स्वयं भी बहुत दुःख पाते हैं। ये लोग संसार में लोगों का कुछ भी हित किए बिना दूसरों की सेवा पर निर्भर रहते हुए शरीर-यात्रा करते हैं, और अज्ञानी लोग अन्ध-विश्वास से केवल भेष आदि आडम्बर ही के कारण इनको महात्मा मान कर इन निरुद्यमियों की पूजा, सेवा-शुश्रूषा, भरण पोषण आदि करते हैं। वास्तव में जो व्यक्ति लोगों की कुछ भी सेवा किए बिना मुफ़्त में दूसरों से सेवा करवाते हैं वे त्यागी या सन्यासी नहीं होते, किन्तु आलसी, प्रमादी,

कर्त्तव्य-चोर होते हैं। इनमें से बहुत से तो साधु आदि के भेष में, बड़े धूर्त्त, ठग, विषय लम्पट और नशेबाज होते हैं और आसुरी सम्पद् के अनेक दुर्गुण इन लोगों में भरे रहते हैं। इन लोगों से जगत के अहित के सिवाय और कुछ भी नहीं होता।

समता

सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा=परमात्मा जगत में सर्वत्र, सर्वदा, एक समान ओत-प्रोत भरा हुआ है, उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, स्थूल जगत का दृश्य प्रपञ्च उसकी माया-शक्ति का खेल मात्र है, वह भी उससे भिन्न नहीं, उसकी सच्ची और स्थायी सूक्ष्म सत्ता पर ही—क्षण-क्षण में परिवर्तन होने वाले स्थूल जगत की दिखावटी सत्ता निर्भर है और स्थावर जङ्गम सब देहों में एक परमात्मा समान रूप से व्यापक है—यह साम्य भाव चित्त में रखते हुए जगत के सब व्यवहार करना, सुख-दुख, हानि-लाभ, मान अपमान, निन्दा-स्तुति, जय पराजय, सिद्धि असिद्धि, शुभ अशुभ, प्रिय अप्रिय, इष्ट-अनिष्ट, आदि द्वन्द्वों में हर्ष, शोक, राग और द्वेष की वृत्तियों से मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं करना अर्थात् अनुकूलता में अत्यन्त आह्लाद और प्रतिकूलता में विषाद न करना, ये द्वन्द्व भी आत्मा परमात्मा के अर्थात् अपनी आत्मा की माया-

शक्ति के प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाले खेल हैं—अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चय करके एकरस रहना, तथा छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे, शत्रु-मित्र, अपने-पराए—सबको एक परमात्मा के अनेक रूप समझ कर (गी० अ० ५ १८) उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद उत्पन्न करने वाले भाव न रखना, किन्तु सबके साथ एकता का अनुभव करते हुए यथायोग्य प्रेम* का व्यवहार करना।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

—गी० अ० १४ २४

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

—गी० अ० १४ २५

अर्थ—जो अपने आप में स्थित होकर अर्थात् अपनी आत्मा ही में सबका समावेश जान कर, सुख-दुःख, माटी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय, निन्दा, स्तुति, मान, अपमान, शत्रु, मित्र आदि द्वन्द्वों में सम अर्थात् एक समान रह कर विचलित नहीं होता और जिसने (विषमता के) सब आरम्भ (व्यवहार) छोड़ दिए हैं उस धीर पुरुष को गुणातीत कहते हैं।

---

* प्रेम का खुलासा इसके पहिले देखिए।

और संसार चक्र को चलाने में भिन्न भिन्न शरीरों की योग्यतानुसार, उनके नाना भाँति के व्यवहारों का एक समान महत्व और एक समान आवश्यकता है—ऐसा समझ कर सबके साथ सहयोग रखते हुए अपना अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना, दूसरों के सुख दुःख को अपने समान मान कर (गी० अ० ६ ३२) परस्पर में सहायता देना और सबके हित का यथायोग्य ध्यान रखना—यह सची समता है। परन्तु समता का यह अर्थ नहीं है कि जगत के व्यवहार में छोटा, बड़ा, स्त्री, पुरुष, पशु पक्षी, अच्छा, बुरा, बुद्धिमान और मूर्ख सब एक ही प्रकार के कार्य करें और एक ही प्रकार के भोग भोगें, क्योंकि जगत प्रकृति के सत्व, रज और तम तीनों गुणों के तारतम्य का खेल है अर्थात् गुण-वैचित्र्य ही जगत है, अतएव यदि गुणों के तारतम्य के अनुसार भाँति-भाँति के कर्म न किए जायँ और भाँति भाँति के ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे भोग न भोगे जायँ तो कर्मों (प्रकृति) की साम्यावस्था में जगत के खेल का प्रलय हो जाय। अत कर्म करने तथा उनके फल भोगने में समता होना प्रकृति के विरुद्ध है—इसलिए यह समता नहीं विषमता है। जिस शरीर के गुणों की जैसी योग्यता हो उसीके अनुसार कर्म करना और उन कर्मों के परिणामस्वरूप भाँति भाँति के भोग भोगना ही सच्ची समता या साम्य भाव है।

वर्तमान काल में साम्यवाद को लेकर सभ्य समाज

बहुत विशृङ्खलता उत्पन्न हो गई है। एक तरफ तो बढे हुए विचारों के साम्यवादी, मनुष्य मात्र के लिए एक समान कर्म करने और एक समान भोग भोगने का अधिकार स्थापित करने के अप्राकृतिक प्रयत्न में जी-जान से लगे हुए हैं और वे पूँजीपतियों तथा सत्ताधारियों से द्वेष तथा घृणा करते हैं, और दूसरी तरफ पूँजीपति तथा सत्ताधारी लोग स्वय अपनी आवश्यकताओं से बहुत अधिक भोग भोगते हुए तथा आडम्बरों एव अनाचारों में बेहिसाब पदार्थों का अपव्यय करते हुए साधारण लोगों तथा श्रमजीवियों के मनुष्योचित अधिकारों को कुचलते रहते हैं और (मनुष्य) जीवन के लिए उपयुक्त एव आवश्यक भोग्य सामग्रियों से भी उनको वञ्चित रखने पर तुले हुए हैं। इन सम्पत्तिमानों के अतिरिक्त कट्टर धार्मिक विचारों के लोग, साम्प्रदायिकता की रूढ़ियों में जकड़े हुए—विषमता के व्यवहारों में हद दर्जे तक पहुँच गए हैं। मनुष्य जगत के आधे अङ्ग स्त्री जाति को, पुरुषों ने अपने भोग की जड़ सामग्री की तरह मान कर, उसको मनुष्यता के अधिकारों ही से वञ्चित कर रक्खा है। पुरुष, ससार का सब ज्ञान—सब प्रकार की विद्याएँ पढ कर—प्राप्त कर सकता है, परन्तु स्त्रियों को किसी भी विद्या के पढ़ने का कोई अधिकार नहीं। पुरुष, ससार में चाहे जहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक खुला विचर सकता है, परन्तु स्त्री को घर से बाहिर निकलने तथा अपना मुँह खोलने

तक का भी अधिकार नहीं। ससार की सब सम्पत्ति और सब भोग्य पदार्थ तो एक मात्र पुरुषो की मौरूसी जायदाद है ही—यहाँ तक कि स्त्री का अपना व्यक्तित्व ही नहीं माना जाता—किन्तु परमात्मा की प्राप्ति भी पुरुष समाज ने एक मात्र अपने लिए रिजर्व रख कर स्त्रियों को उससे भी वञ्चित कर रक्खा है। जब अपने आधे अङ्ग स्त्री जाति के साथ भी इतनी विषमता है तो इतर प्राणियों की तो गिनती ही क्या? पशु-पक्षी तो न केवल पुरुषों के खाद्य पदार्थ ही हैं, किन्तु उनके आमोद-प्रमोद के लिए भी बेचारों के प्राणों तक का हरण किया जाता है और पुरुषो के अदृष्ट स्वार्थो की सिद्धि के लिए कल्पित देवताओं के नाम पर इनका बलिदान किया जाता है।

मनुष्यों का मनुष्यों के साथ परस्पर में इतनी विषमता का बर्ताव है कि कई निम्न श्रेणी के माने जाने वाले मनुष्यों को उच्च श्रेणी के अहङ्कार वाले मनुष्य छूना भी पाप समझते हैं और उनके साथ पशुओं से भी हीनता का व्यवहार करते हैं एवं उन पर पशुओ से भी अधिक अत्याचार करते हैं। उच्च जाति वालो में आपस में भी इतना भेद भाव है कि समान गुण कर्म तथा समान आचार-विचार वाले लोग भी आपस में खान-पान और विवाह सम्बन्ध के व्यवहार नहीं करते। एक दूसरे को नीचा और अपवित्र मान कर आपस में परहेज करते हैं। यह विषमता यहाँ तक

बढी हुई है कि कहीं-कहीं तो सगे भाई (सहोदर) भी एक दूसरे का छुआ नहीं खाते और पत्नी पति का छुआ नहीं खाती।

जिस तरह इस प्रकार की विषमता अप्राकृतिक तथा सर्वनाश करने वाली है, उसी तरह कर्म करने तथा भोग भोगने में एकाकार समता होना भी अप्राकृतिक तथा नाशकारी है। यह बात पहिले कही जा चुकी है कि जगत्, परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और गुणों का तारतम्य होने ही से यह खेल बनता है, गुण-वैचित्र्य ही संसार है। गुणों की साम्यावस्था में ससार ही नहीं रहता, इसलिए गुणों की पूर्ण समता हो ही नहीं सकती। अत जब तक संसार है, तब तक गुणों की विषमता रहनी अनिवार्य है। परन्तु वह विषमता गुण-वैचित्र्य तक ही सीमाबद्ध रहनी चाहिए। इससे बढ कर, जो जाति या समाज अपने स्वार्थ तथा अहङ्कार से जबरदस्ती अपने मनमानी विषमता उत्पन्न करता है, वह प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है, अत उसका विनाश होता है।

जगत के स्थावर—पाषाण आदि—पदार्थों में तमोगुण की अधिकता होती है, उनमें सत्व, रज बहुत ही अल्प होते हैं, वृक्षादिकों में क्रमशः पाषाण आदि से तमोगुण कुछ कम होता है और सत्व, रज का कुछ उत्कर्ष होता है, इसी तरह पशु-पक्षियों में क्रमशः वृक्षादिकों से गुणोत्कर्ष है और मनुष्यों में

क्रमश पशु आदिको से गुणोत्कर्ष है। मनुष्यो में आपस में भी गुणों का अनन्त तारतम्य है, परन्तु सामाजिक सुव्यवस्था के लिहाज से साधारणतया उनके चार प्रधान भेद किए जाते हैं। कइयों में तमोगुण की अधिकता होती है और सत्व की न्यूनता, कइयो में रज की अधिकता और सत्व की न्यूनता, कइयों में रज की अधिकता और तम की न्यूनता एवं कइयों में सत्व की अधिकता और रज तम की न्यूनता होती है। जिनमें तम की अधिकता और सत्व की न्यूनता होती है, उनमें बुद्धि का विकाश बहुत कम होता है, अत उनमें बुद्धि द्वारा सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं होती, किन्तु दूसरों के आदेशानुसार स्थूल शरीर से काम करने की (शारीरिक श्रम की) योग्यता अधिक होती है। जिनमे रजोगुण की अधिकता और सत्व कम होता है, उनमें अपनी बुद्धि की प्रेरणा से व्यवसाय आदि करने की योग्यता पहिले वालों से अधिक होती है। जिनमें रज की अधिकता और तम की न्यूनता होती है, उनमे उपरोक्त दोनो की अपेक्षा बुद्धि का विकाश अधिक होता है और अपनी प्रेरणा से काम करने की भी विशेष योग्यता रहती है, अत उनमें दूसरों का शासन और रक्षण करने की योग्यता होती है, और जिनमें सत्वगुण की अधिकता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी बुद्धि बहुत विकसित हो जाती है, अत उनमें सब प्रकार के सूक्ष्म ज्ञान सम्पादन करने तथा उनके प्रचार करने की विशेष

योग्यता होती है। अत गुणोत्कर्ष के अनुसार जिनमें बुद्धि का विकास कम होता है—शारीरिक श्रम की योग्यता विशेष होती है—वे शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, बुद्धि का कार्य उनसे नहीं हो सकता, और उनको शारीरिक श्रम—जिनकी बुद्धि विकसित हुई है, उनके आदेशानुसार—करना होता है, क्योंकि स्थूल कर्म से सूक्ष्म बुद्धि श्रेष्ठ होती है। इसलिए केवल शारीरिक श्रम करने वाले तम प्रधान लोगों के लिए सत्व, रज प्रधान लोगों की शिक्षा, रक्षा तथा व्यवसाय के आश्रय में अपना व्यवसाय करना आवश्यक है। और सत्व प्रधान लोग रज तम प्रधान लोगों के रक्षण, व्यवसाय तथा श्रम के आश्रय से ही अपनी विद्या तथा ज्ञान का व्यवसाय कर सकते हैं। इसी तरह मध्य श्रेणी के गुण विकास वाले लोगों का परस्पर सम्बन्ध रहता है और एक को दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। सबको अपने अपने गुणों के तारतम्य के अनुसार भिन्न भिन्न काम करने होते हैं और उनके अनुसार ही खान पान, रहन सहन तथा दूसरे भोग भी भिन्न भिन्न श्रेणी के उनके उपयुक्त होते हैं। सत्व गुण प्रधान लोगों के खान-पान, रहन-सहन आदि तमोगुण प्रधान लोगों के अनुकूल नहीं पड़ते और तमोगुण वालों के खान पान, रहन-सहन आदि सत्व गुण वालों के अनुकूल नहीं पड़ते। इसी तरह दूसरों के समझना चाहिए।

स्त्रियों में साधारणतया अपने समान गुणों के पुरुषों की

अपेक्षा स्वभाव से ही कुछ रजोगुण की विशेषता रहती है। अतः उनमें साधारणतया अपने-अपने गृहस्थी के और अपने-अपने समाज के भीतरी काम-काज करने की ही विशेष योग्यता रहती है। इसलिए द्रव्योपार्जन आदि के बाहिरी सब काम काज के लिए पुरुषों के आश्रय में रह कर गृह के भीतरी सब कामों की वह स्वामिनी होती है। पुरुषों को गृहस्थ के कामों के लिए स्त्रियों पर निर्भर रहते हुए बाहिरी काम करने होते हैं और साधारणतया स्त्रियों की रक्षा, शिक्षा और भरण पोषण आदर सहित करना पुरुषों का कर्त्तव्य है। तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य-कर्म यद्यपि बटे हुए हैं, परन्तु हैं वे एक ही श्रेणी के, अतः समान गुणों के स्त्री पुरुषों के खान-पान, रहन-सहन आदि प्राय समान श्रेणी के होने चाहिए।

साराश यह कि गुणों के तारतम्य के आधार पर अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न कर्म करना तथा भिन्न भिन्न भोग भोगना—यही सच्ची समता है। गुणों की उपेक्षा करके सबके एक समान कर्म और एक समान भोग अथवा गुणों के विपरीत कर्म और भोग—समता नहीं किन्तु विषमता है।

पाषाण, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि सब जड़ और चेतन पदार्थों के साथ भी उनके गुणानुसार यथायोग्य व्यवहार करना ही समता है।

सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो गुणों के तारतम्य के अनुसार भिन्न भिन्न कर्म और भिन्न-भिन्न भोगों की उपरोक्त विषमता भी केवल समष्टि-आत्मा परमात्मा की माया के खेल—इस ससार-चक्र को यथावत् चलाने के लिए है, अत यह विषमता भी केवल दिखावटी खेल मात्र ही है, क्योंकि ऊँचे-नीचे कर्म और भोगों से होने वाले सुख दु ख भी अस्थायी—क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील होते हैं। स्थायी और वास्तविक सुख या दु'ख किसी भी कर्म या भोग में नहीं है। सासारिक विषय भोग—बड़े-छोटे, अमीर गरीब—सब ही के लिए दु'ख परिणाम वाले होते हैं, अधिक भोगों से अधिक और थोड़े से थोड़ा दु'ख होता है। अत वास्तव में भिन्नता कुछ है नहीं, क्योंकि कर्म और भोग तथा उनके उपयुक्त सब सामग्री एव सब शरीर एक ही परमात्मा के अनेक मायिक रूप हैं। उसमे पृथक कुछ है नहीं। जो परमात्मा पण्डितों तथा उनके शास्त्र ग्रन्थों में हैं, जो हवन करने वालों तथा हवन-कुण्ड में है, ज्ञानियों तथा उनके ज्ञान में है, साधुओं तथा उनके भेष मे है, योगियों तथा उनकी समाधि में है, मन्दिरों, पुजारियों तथा मूर्तियों में है और जो परमात्मा कर्मकाण्डियों तथा उनके कर्मों मे है—वही परमात्मा शासक क्षत्रियों और उनकी तलवारों में, वही वैश्यों और उनकी क़लम में, शिल्पकार और उसकी शिल्प कला में, लोहार और उसकी भट्टी में, कुम्हार और उसके

चाक मे, सुथार और उसके बसोले मे, जुलाहा और उसके कर्घे मे, कारखानों और मशीनो में, इञ्जन और वायलरो मे, मेहतर और उसके झाड़ू मे , चमार और उसके चमडे मे तथा क़साई और उसके छुरे में है और वही परमात्मा पुरुषों और उनके द्रव्योपार्जन के उद्योगो में और वही स्त्रियो तथा उनके गृहस्थ के काम-काज में है ।

मत्त परतर नान्यत्किंचिदस्तिधनञ्जय ।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगण इव ॥

—गी० अ० ७

अर्थ—हे धनञ्जय ! मुझसे परे अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह सब ससार धागे में पिरोए हुए (धागे ही की) मणियों की तरह मुझमें गुँथा है ।

साराश यह कि वास्तव में बड़े, छोटे, ऊँच, नीच, पवित्र, अपवित्र आदि का भेद कुछ भी नहीं है । अपनी-अपनी योग्यतानुसार सभी काम इकसार उपयोगी और आवश्यक हैं और ससार-चक्र को अच्छी तरह चलाने के लिए अपने-अपने स्थान मे उनके कर्म अच्छे हैं , क्योंकि सब कर्म तथा उनके कर्त्ता सभी परमात्मा के व्यक्त स्वरूप हैं । इसलिए किसी से द्वेष, घृणा या तिरस्कार न करके सब से एकता का साम्य भाव रखते हुए तथा दूसरों के उचित अधिकारो पर आघात पहुँचाए बिना—गुणों के

के अनुसार—अपने-अपने व्यवहार करने तथा उनके अनुसार ही भोग भोगने में सन्तुष्ट रहना—यही वास्तविक समता है।

सन्तोष

अपने कर्त्तव्य-कर्म खूब अच्छी तरह—पूर्ण शक्ति एवं युक्ति के साथ—करने पर जो सुख दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति आदि प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना और चित्त को शान्त रखना ही सच्चा सन्तोष है। परन्तु सन्तोष का यह तात्पर्य नहीं कि प्रारब्ध, दैव, भावी या ईश्वर के भरोसे पर बैठ कर उद्यम ही न करना, अपने तथा दूसरे लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इहलौकिक सुख-समृद्धि एवं पारलौकिक श्रेय साधन के लिए उद्यम ही न करना—यह सन्तोष नहीं, किन्तु आलस्य एवं प्रमाद है। सात्विक आचरण एवं शुभ व्यवहारों मे निरन्तर दत्त चित्त होकर उद्यम करते रहना चाहिए।

शम

मन को अपने वश में रख कर सासारिक विषयों में आसक्त न होने देना, सङ्कल्प विकल्पों से निग्रह कर उसे आत्मा अर्थात् एकता में जोडना और अपने कर्त्तव्य कर्म जिस समय जो उपस्थित हों उनमें लगाना तथा उन कर्त्तव्य-कर्मों के करने में एकाग्र रखना—यह सच्चा शम है। परन्तु मन को सर्वथा मार डालने का उद्योग करना या उसे

संसार के व्यवहारों से सर्वथा हटा लेना—यह शम नहीं, दुराग्रह है, क्योंकि संसार के व्यवहार मन से ही चलते हैं और जब तक संसार है तब तक मन का नाश नहीं हो सकता। अतः मन को सदा वश में रख कर साम्य भाव से व्यवहार करना ही सच्चा शम है।

दम

इन्द्रियों के विषय मर्यादित रूप से, मन को वश में रखते हुए—आसक्ति एवं राग द्वेष रहित होकर—जैसे प्राप्त हो जायँ, भोग कर परम सन्तुष्ट रहना, विषयों के भोगने में इतना आसक्त न होना कि रात-दिन उन्हीं में लगे रह कर लोक व्यवहार बिगाड़ दिए जायँ तथा सात्विक आचरण छूट कर विपरीत व्यवहारों में प्रवृत्ति हो जाय अर्थात इन्द्रियों के अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखते हुए विषय भोगना—यह सच्चा दम है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गी० अ० २ ६४

अर्थ—राग द्वेष को छोड़ कर, अपने अधीन की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोग करके भी, अपना अन्तःकरण वश में रखता हुआ मनुष्य प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

परन्तु हठ से इन्द्रियों को अपने विषयों से सर्वथा हटा

कर मन से उनका चिन्तन करते रहना तथा शारीरिक वेगों से मन को विक्षिप्त रखना—दम नहीं, किन्तु मिथ्याचार है।

श्रद्धा-विश्वास-आस्तिकता

जो पदार्थ वस्तुत जैसा है उसको वैसा ही मानना अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले—इन्द्रिय-गोचर स्थूल जगत् के नाना भाँति के दिखाव को—प्रतिक्षण परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति विनाश वाला होने के कारण झूठा, और उसके एकत्व भाव के अस्तित्व को सदा एकरस रहने वाला, समझ कर सच्चा मानना, और उस एकत्व भाव यानी असली सूक्ष्म तत्त्व—सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा परमात्मा—को यथावत् जानने का श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करना, आत्मा परमात्मा इन्द्रियातीत है अर्थात् इन्द्रियों, मन और स्थूल बुद्धि से वह जाना नहीं जा सकता, वह तो अपरोक्ष ज्ञान अर्थात अनुभव का ही विषय है और वह अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् आत्मानुभव—अनेक जन्मो तक सात्विक व्यवहार करते करते बहुत दीर्घकाल के अभ्यास के बाद सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि होने पर—विरले ही सज्जनों को होता है, साधारण व्यक्तियों को केवल पढने-सुनने मात्र से उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता, अत उस अव्यक्त, अविनाशी, सबके हृदय में स्थित आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वव्यापकता के विषय मे, जिन ज्ञानी महा-

त्माओं ने उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है उनके वचनों में श्रद्धा विश्वास रखना तथा उक्त अपरोक्ष ज्ञान यानी आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए उक्त ज्ञानी महात्माओं के उपदेशानुसार सात्विक आचरण श्रद्धापूर्वक करना, सत्शास्त्रों के अध्ययन में तथा जिनमें दैवी सम्पद के गुण अधिक हों और जो देवताओं की तरह सर्व भूत प्राणियों के हित में लगे हों, उनके वाक्यों तथा उपदेशों में और जिस विषय का जिसको यथार्थ ज्ञान हो उस विषय में उसकी बातों में श्रद्धा रखना और प्रत्येक उद्योग में अपनी और सबकी आत्मा (परमात्मा) पर सब से अधिक भरोसा रखना—यह सच्ची श्रद्धा, विश्वास अथवा आस्तिकता है। आत्मविश्वास रूपी सच्ची श्रद्धा के बिना संसार का कोई भी व्यवहार ठीक ठीक चल नहीं सकता और न आत्मविश्वास के बिना किसी प्रकार की सफलता ही हो सकती है। इसी तरह लौकिक या पारमार्थिक, किसी भी प्रकार के व्यवहार में पहिले दूसरों के किए हुए अनुभव पर श्रद्धा करके ही प्रवृत्ति होती है और एक दूसरे का कुछ न कुछ विश्वास करना ही पड़ता है। श्रद्धा के बिना संशययुक्त चित्त से किया हुआ कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता।

अश्रद्धयाहुत दत्त तपस्तप्त कृत च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

—गी० अ० १७-२८

अर्थ—अश्रद्धा से जो यज्ञ किया हो, दान दिया हो, तप किया हो या जो कुछ कर्म किया हो, वह "असत्" कहा जाता है। हे पार्थ ! वह (मरने पर) परलोक और (जीवित रहते) इस लोक, दोनों में ही निरर्थक है।

यहाँ तक कि सबका जीवन ही श्रद्धामय है।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

—गी० अ० १७ ३

अर्थ—हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्व अर्थात् प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय ही है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है।

परन्तु श्रद्धा सात्विक होनी चाहिए।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

—गी० अ० १७ ४

अर्थ—सात्विक लोगों की देवों में अर्थात् जिनमें दैवी सम्पद् के गुण भरे हों, अथवा जो दैवी शक्तियों की तरह सबके साथ एकता के भाव रखते हों—उनमें श्रद्धा होती है, रजोगुणी लोगों की यक्षों और राक्षसों में अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ यानी धन, मान और कीर्ति आदि के (अर्थ) लोलुप व्यक्तियों अथवा धनाढ्यों में तथा राक्षसी प्रकृति के आततायियों (अत्याचारियों) में श्रद्धा होती है और

तमोगुणी लोगों की प्रेत अर्थात् मरे हुओं में और भूत अर्थात् जड़ पदार्थों तथा जड़ प्रकृति के लोगों में श्रद्धा होती है।

परन्तु सात्विकी श्रद्धा भी पहिले किसी कार्य मे प्रवृत्त होने तक ही रहनी चाहिए। जब किसी कार्य में प्रवृत्त होकर उसका कुछ अनुभव कर लिया जाय तब उसमें अन्धश्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु फिर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए अर्थात् आत्म-विश्वास एव स्वावलम्बन का आश्रय लेना चाहिए। किसी भी कार्य में बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर तथा अपनी आत्मा अर्थात् स्वावलम्बन पर भरोसा न करके सदा दूसरों पर अन्ध-श्रद्धा रख कर और दूसरों पर निर्भर रह कर परावलम्बी बने रहना—यह श्रद्धा या आस्तिकता नहीं, किन्तु नास्तिकता है। जिस तरह भेद-बुद्धि से एक परमात्मा से भिन्न अनेक परोक्ष देवी-देवता, भूत प्रेत, पीर-पैगम्बर आदि की कल्पना करके अन्धविश्वास से उनका पूजन अर्चन करना, उनकी अप्रसन्नता से विपत्तियों की उत्पत्ति मानना और उनके प्रसन्न होने से विपत्तियों से छुटकारा पाने तथा पुत्र-कलत्र, धन धान्य, मान-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होने का विश्वास रखना तथा उनको प्रसन्न करने के लिए न्याय या अन्याय से पदार्थ संग्रह करके उनके नाम पर भेंट करना और पशु तथा अन्य प्राणियों की बलि देना, अज्ञानी, मूर्ख, दम्भी, स्वार्थी तथा वाक-पटु धूर्तों की बातों तथा ऐसे लोगों के रचे हुए शास्त्रों में

अन्ध विश्वास रखना, जिसको जिस विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं उस विषय में उसकी बातें मानना, अपनी बुद्धि से काम न लेकर पुराने ग्रन्थों में लिखी हुई होने से अथवा नए जमाने की पुस्तकों के प्रमाण ही से अथवा पूर्वजों की प्रचलित की हुई होने से अथवा नई रोशनी के लोगों के स्वीकार कर लेने ही से किसी व्यवस्था पर अन्ध-विश्वास की श्रद्धा कर लेना—यह राजसी-तामसी श्रद्धा है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात् सीधा रखना, अपनी तरफ़ से किसी के साथ छल, कपट, टेढ़ापन, ऐंठन, कुटाई तथा कूट नीति के भाव चित्त में न रखना तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—सच्ची सरलता है। परन्तु दम्भियों, ठगों, धूर्तों तथा दुष्टों के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनके फन्दे में फँस जाना और अपने कर्त्तव्य बिगाड़ देना सरलता नहीं, भोंदूपन है।

धैर्य्य

सुख-दुःख, हानि लाभ, हर्ष शोक, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों एवं शारीरिक कष्ट से व्याकुल होकर धीरज न छोड़ना और अपने कर्त्तव्य-कर्म पर दृढ़ रहना—सच्चा धैर्य्य है। परन्तु अनर्थ को टालने की सामर्थ्य होते हुए भी चुप होकर बैठे रहना तथा जिस काम में अनर्थ के

सिवाय और कोई शुभ होने की सम्भावना न दीखे तो भी वह करते ही जाना, उसे बदलने की चेष्टा करने में विलम्ब करना—धैर्य्य नहीं किन्तु प्रमाद है।

उत्साह

अपने कर्तव्य सम्पादन करने में प्रफुल्ल चित्त से उद्योग करते हुए अग्रसर होते रहना, हताश न होना—सच्चा उत्साह है। परन्तु अपनी शक्ति और परिणाम को सोचे विचारे बिना किसी भी कार्य में कूद पड़ना तथा विपरीत व्यवहारों में उत्साह दिखाना—उत्साह नहीं किन्तु चपलता है।

उदारता

दूसरों के विचारों, विश्वासों, सत्कार्यों तथा गुणों को उचित महत्व देना, दूसरों के सुख दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि में हमदर्दी रखना, केवल अपने ही स्वार्थ पर लक्ष्य न रख कर दूसरों के स्वार्थों को भी स्थान देना, लोगों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सुपात्रों को द्रव्यादिक दान देना, देश और काल की परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार अपने विचारों में परिवर्तन करना—सच्ची उदारता है। परन्तु निरर्थक फिजूल खर्च करना, अन्ध विश्वास से दम्भियों का आदर व पूजन करके उनको बेसमझी से दान देकर उनका महत्व बढ़ाना, ठगों तथा खुशामदियों की बातों में आकर अपव्यय करना

अमुक आश्रम है" इत्यादि देहाभिमान जन्य मलिन अहङ्कार के भाव चित्त में न रखना, "मैं यह प्रति क्षण बदलने तथा उत्पत्ति नाश वाला शरीर नहीं, किन्तु शरीर के अन्दर रहने वाला सच्चिदानन्द अविनाशी आत्मा हूँ, शरीर तो मेरे रहने का स्थान है, जिसमें रह कर मैं जगत का खेल किया करता हूँ, सत् चित आनन्द-स्वरूप आत्मा अकर्ता होने से उसमें सुख दुःखादि द्वन्द्व धर्म नहीं होते, ये सब मेरी प्रकृति के खेल हैं, मैं (आत्मा) इन खेलों में केवल साधारण सत्ता एव स्फूर्ति देने वाला हूँ, सब कुछ करता हुआ भी मैं वास्तव में कर्ता भोक्ता नहीं—" इस तरह के भाव अन्तःकरण में रखते हुए ससार के सब व्यवहार करना—यह सचा निरहङ्कार है। परन्तु निरहङ्कार का यथार्थ तत्त्व न समझ कर व्यवहार में अपने कर्त्तव्य पालन करने की जिम्मेवारी को भूल जाना और कुछ भी न करना यह निरहङ्कार नहीं—जड़ता है। क्योंकि व्यवहार त्यागने का भाव भी तामसी अहङ्कार है। इसलिए अपने अन्तःकरण पर किसी प्रकार के शारीरिक अहङ्कार का अभिनिवेश न रखते हुए यथायोग्य ससार के सब व्यवहार करना ही वास्तविक निरहङ्कार है।

तप

सत्कार, मान, पूजा अथवा और किसी भी प्रकार के स्वार्थ का भार छोड़ कर, देवता, ब्राह्मण, आचार्य और

बुद्धिमानों का श्रद्धायुक्त पूजन करना, बाहिर-भीतर से पवित्रता रखना, किसी को कष्ट न देना, सरलता रखना, ब्रह्मचर्य पालन करना, वाणी से किसी को उद्वेग न करने वाले सच्चे, मीठे और हित के वचन बोलना, विद्या पढ़ना; मन को प्रसन्न, शान्त, एकाग्र और अपने वश में रखना तथा इन्द्रियों को अपने अधीन रखना—यह सच्चा तप है। परन्तु मूढ़ता के कारण, हठ से शरीर को भूख प्यास, शीतोष्ण आदि से अथवा दूसरी क्रियाओं से कष्ट देना या दूसरों को दुख देने के लिए जप, अनुष्ठान आदि करना अथवा मान, पूजा तथा लोक-दिखावे को—तपस्वी कहलाने के लिए—छल से उपरोक्त तप करना—यह तप नहीं किन्तु दुराग्रह है।

सत्य बोलना

सत्य, मधुर और लोक हितकर वचन बोलना—सच्चा सत्य है। परन्तु जिन सत्य वचनों से दूसरों को बिना प्रयोजन उद्वेग उत्पन्न होता हो अथवा कठोरता से दूसरे के चित्त पर आघात पहुँचता हो अथवा जिन सत्य वचनों से लोगों का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहङ्कार और हठ से बोलना—यह सत्य नहीं किन्तु असत्य है। जो सत्य हित का विरोधी हो वह वास्तव में सत्य नहीं होता, क्योंकि हित की बात किसी समय सत्य या प्रिय न भी हो तो उससे किसी की कोई हानि

अमुक आश्रम है" इत्यादि देहाभिमान जन्य मलिन अहङ्कार के भाव चित्त में न रखना, "मैं यह प्रति क्षण बदलने तथा उत्पत्ति नाश वाला शरीर नहीं, किन्तु शरीर के अन्दर रहने वाला सच्चिदानन्द अविनाशी आत्मा हूँ, शरीर तो मेरे रहने का स्थान है, जिसमें रह कर मैं जगत का खेल किया करता हूँ, सत् चित आनन्द-स्वरूप आत्मा अकर्ता होने से उसमें सुख दु:खादि द्वन्द्व धर्म नहीं होते, ये सब मेरी प्रकृति के खेल हैं, मैं (आत्मा) इन खेलों में केवल साधारण सत्ता एवं स्फूर्ति देने वाला हूँ, सब कुछ करता हुआ भी मैं वास्तव में कर्ता भोक्ता नहीं—" इस तरह के भाव अन्त-करण में रखते हुए संसार के सब व्यवहार करना—यह सच्चा निरहङ्कार है। परन्तु निरहङ्कार का यथार्थ तत्त्व न समझ कर व्यवहार में अपने कर्त्तव्य पालन करने की जिम्मेवारी को भूल जाना और कुछ भी न करना यह निरहङ्कार नहीं—जड़ता है। क्योंकि व्यवहार त्यागने का भाव भी तामसी अहङ्कार है। इसलिए अपने अन्त करण पर किसी प्रकार के शारीरिक अहङ्कार का अभिनिवेश न रखते हुए यथायोग्य संसार के सब व्यवहार करना ही वास्तविक निरहङ्कार है।

तप

सत्कार, मान, पूजा अथवा और किसी भी प्रकार के स्वार्थ का भाव छोड़ कर, देवता, ब्राह्मण, आचार्य और

बुद्धिमानों का श्रद्धायुक्त पूजन करना; बाहिर-भीतर से पवित्रता रखना, किसी को कष्ट न देना, सरलता रखना, ब्रह्मचर्य पालन करना, वाणी से किसी को उद्वेग न करने वाले सच्चे, मीठे और हित के वचन बोलना, विद्या पढना, मन को प्रसन्न, शान्त, एकाग्र और अपने वश में रखना तथा इन्द्रियों को अपने अधीन रखना—यह सच्चा तप है। परन्तु मूढता के कारण, हठ से शरीर को भूख प्यास, शीतोष्ण आदि से अथवा दूसरी क्रियाओं से कष्ट देना या दूसरों को दुख देने के लिए जप, अनुष्ठान आदि करना अथवा मान, पूजा तथा लोक-दिखावे को—तपस्वी कहलाने के लिए—छल से उपरोक्त तप करना—यह तप नहीं किन्तु दुराग्रह है।

सत्य बोलना

सत्य, मधुर और लोक हितकर वचन बोलना—सच्चा सत्य है। परन्तु जिन सत्य वचनों से दूसरों को बिना प्रयोजन उद्वेग उत्पन्न होता हो अथवा कठोरता से दूसरों के चित्त पर आघात पहुँचता हो अथवा जिन सत्य वचनों से लोगों का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहङ्कार और हठ से बोलना—यह सत्य नहीं किन्तु असत्य है। जो सत्य हित का विरोधी हो वह वास्तव में सत्य नहीं होता, क्योंकि हित की बात किसी या प्रिय न भी हो तो उससे किसी की

नहीं होती, परन्तु अहित की बात यदि सत्य और प्रिय भी हो तो उससे हानि के सिवाय लाभ नहीं होता—अतएव प्रधान लक्ष्य हित पर ही रखना चाहिए। सबके लिए हितकर वाक्य अन्त में सत्य हो ही जाते हैं। केवल मुख से उच्चारण कर देने मात्र से कोई वाक्य सत्य या झूठ नहीं होता, वचनों की सत्यता या असत्यता, बोलने वाले के भाव और उससे होने वाले परिणाम पर निर्भर है।

शौच (पवित्रता)

अन्तःकरण को राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, कपट, घृणा आदि आत्म विमुख करने वाले मलिन भावों से शुद्ध रखना तथा इन्द्रियों के व्यवहार शुद्ध रखना अर्थात् आँखों से ऐसे दृश्य न देखना, कानों से ऐसे शब्द न सुनना, जिह्वा से ऐसे पदार्थ न खाना, नासिका से ऐसे पदार्थ न सूँघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओं का स्पर्श न करना, जिनसे चित्त की चञ्चलता बढ़े और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारों में प्रवृत्ति हो, इसी तरह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार भी शुद्ध रखना और शरीर को स्नान, मज्जन, स्वच्छ वस्त्रादि से शुद्ध रखना—यह सच्चा शौच है। परन्तु अन्तःकरण के तथा इन्द्रियों के व्यवहारों को शुद्ध न रख कर केवल स्थूल शरीर को छुआछूत, चौका-चूल्हा, कच्ची-पक्की आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना और स्पर्शास्पर्श के सङ्कुचित

भावों से दूसरों का तिरस्कार तथा घृणा करना—यह शौच (पवित्रता) नहीं किन्तु मलिनता है। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलों का खजाना ही है—केवल ऊपरी छुआछूत से यह शुद्ध नहीं हो सकता। जीवात्मा के सयोग से ही यह पवित्र रहता है। जिस क्षण उससे इसका विछोह होता है उसी क्षण से यह छूने योग्य भी नहीं रहता—अत एकमात्र आत्मिक, उन्नति के सात्विक व्यवहारों से ही यह पवित्र होता है।

अहिंसा

प्राणीमात्र एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी जीवधारी को अपनी तरफ़ से शारीरिक एव मानसिक कष्ट न पहुँचाना, अपने स्वार्थ एव विनोद के लिए अथवा प्रमादवश किसी के शरीर से प्राणों का विछोह न करना, न करवाना तथा किसी की वृत्ति मे बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है। परन्तु किसी को किसी बड़े कष्ट से बचाने के लिए, थोड़ा कष्ट भी न देना तथा किसी बड़ी हिंसा को रोकने के लिए थोडी हिंसा न करना अथवा किसी श्रेष्ठ की रक्षा के लिए दुष्ट को दण्ड न देना, यदि कोई दुराचारी अपनी आर्थिक शक्ति से दूसरों पर अत्याचार करता हो तो उसकी आर्थिक वृत्ति न छीनना अथवा उच्च कोटि के प्राणियों की रक्षा के

लिए हीन कोटि के जीवों को न मारना अथवा लोक हित के लिए कोई किसी अहितकर प्राणी को दण्ड देता हो तो मिथ्या दया के वश होकर उसको सहन न कर सकना और उसको रोकने का प्रयत्न करना—यह अहिंसा नहीं किन्तु हिंसा है।

अहिंसा के विषय में जन-साधारण में—केवल आधिभौतिक दृष्टि से ही विचार करने के कारण—बड़ा भ्रम फैला हुआ है और इस अहिंसा तथा दया के दुरुपयोग से प्रतिदिन महान अनर्थ हो रहे हैं। विषैले जन्तु और क्रूर जानवर मनुष्य समाज तथा उपयोगी पशुओं की हानि करते रहें तो भी उन्हें मारना, अहिंसा धर्म के विरुद्ध समझा जाता है, डाकुओं, दुष्ट-दुराचारी—समाज द्रोहियों तथा खूनियों को प्राण-दण्ड देकर उनको कुकर्म करने से बचाना तथा उनसे समाज की रक्षा करना और चोरों, पाखण्डियों, कुकर्मियों की वृत्ति छीनने में सहायक होना तथा उनको उचित दण्ड दिलाना भी अहिंसा धर्म के विमुख होना समझा जाता है, इसी तरह दुष्ट-दुराचारियों (जालिमों) से भले मनुष्यों की तथा असहाय गरीबों की रक्षा करने के लिए उनको मारना या दण्ड देना भी अहिंसा धर्म के विरुद्ध समझा जाता है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय—तो बिना क़सूर तथा बिना उचित कारण के, किसी निरपराध प्राणी का प्राण शरीर से अलग कर देना या

उसको कष्ट देना या उसकी वृत्ति छीनना अवश्य ही हिंसा है। परन्तु जिन प्राणियों से दूसरों को कष्ट होता हो या हानि पहुँचती हो तथा जिनसे समाज का तथा स्वय उनका अहित के सिवाय और कुछ नहीं होता हो—उनको मार डालना अथवा दण्ड देना अथवा उनकी वृत्ति छीनना वस्तुत अहिंसा है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की अहिंसा का यथार्थ तत्व सूक्ष्मदर्शी, आत्मज्ञानी महान पुरुष ही जान सकते हैं और वे ही उसका उचित निर्णय कर सकते हैं। अत इसका उपयोग ऐसे महान पुरुषों की आज्ञा से होना चाहिए।

वेदाविनाशिन नित्य य एनमजमव्ययम्।
कथ स पुरुष पार्थ क घातयति हन्ति कम्॥

—गी० अ० २ २१

पार्थ—हे अर्जुन! जो यह जानता है कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह किसी को कैसे मारे और कैसे मरवावे अर्थात् वह न किसी को मारता है और न किसी को मरवाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा तो सदा इकसार रहता है, इसमें मरना, घटना, बढ़ना अथवा सुख दु ख कुछ है नहीं। शेष रहा शरीर से प्राणों का विछोह होना या शरीर का कष्ट पाना, सो जिस तरह शरीर पर के वस्त्र मैले होने पर पछाड़ कर धोए जाते हैं और जीर्ण अथवा अनुपयोगी

एव दुखदायक होने पर उतार दिए जाते हैं, उसी तरह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध है, अत यदि किसी के प्राण विछोह से या कष्ट पाने से ही उसका तथा औरों का वास्तविक हित होता हो और सूक्ष्मदर्शी तत्त्वज्ञानी ऐसा कर दें तो वह हिंसा नहीं, किन्तु सच्ची अहिंसा है।

ब्रह्मचर्य

अपने लिए नियत स्त्री अथवा अपने लिए नियत पुरुष के अतिरिक्त पराई स्त्री अथवा पर-पुरुष के साथ अष्ट प्रकार में से किसी भी प्रकार का सङ्ग—मन, वाणी व कर्म से न करना तथा अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के साथ भी नियमित रूप से ही सङ्ग करना यानी वीर्य्य का अपव्यय न करना—यह सच्चा ब्रह्मचर्य्य है। परन्तु हठ करके, अपनी स्त्री या पुरुष से भी योग्यकाल में नियमानुसार सङ्ग न करना और शरीर से विषय न करके मन से उसका चिन्तन करते हुए सदा व्याकुल रहना अथवा जबरदस्ती अप्राकृतिक रूप से अपने जोड़े के सहवास से वञ्चित रहना या दूसरों को वञ्चित रखना अथवा दुनिया में सत्कार, मान, पूजा पाने की कामना से गृहस्थ न करके, जन्म भर ब्रह्मचारी ही बने रहने का ढोंग करके लोक मर्यादा नष्ट करना एव लोक-सग्रह में बाधक होना—यह ब्रह्मचर्य्य नहीं किन्तु मिथ्याचार है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
—गी० अ० ३ ६

अर्थ—जो मूढ़ कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है—वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

देवपूजन

जगत को धारण करने वाली परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियां रूपी देवताओं के साथ अपनी व्यष्टि शक्तियों की एकता करने रूपी देवपूजन करना अर्थात् अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत शक्तियों का समष्टि जगत के लिए उपयोग करना, माता, पिता, स्त्री के लिए पति तथा जिनमें दैवी सम्पदा के गुण तथा सात्विकता की विशेषता हो, ऐसे प्रत्यक्ष और चेतन देवों की सेवा शुश्रूषा एवं आदर-सत्कार द्वारा, निःस्वार्थ भाव से पूजा करना—यह सच्चा देव-पूजन है। देवपूजन भी अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों के साथ जोड़ने का साधन है। परन्तु किसी स्थान विशेष पर बैठे हुए किसी रूप विशेष के देवताओं को कल्पित कर, उनसे किसी फल प्राप्ति के प्रयोजन से अथवा दूसरों को पीड़ा देने एवं हानि पहुँचाने के भाव से, उन पर रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थ चढ़ाना तथा उनके निमित्त पशुओं एवं अन्य

सामग्रियों की बलि आदि देना अथवा भौतिक पदार्थों—धातु, मृत्तिका, पाषाण आदि—को ही देवता मान कर, उन पर जड़ पदार्थ चढ़ाने की पूजा करना और उन, अपनी कल्पना के माने हुए देवताओं से डर कर या कष्ट में उनसे सहायता पाने अथवा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए जड पदार्थों द्वारा उनका अर्चन करना, इसी तरह प्रत्यक्ष चेतन देव माता पिता आदिकों की, उनके जीवन काल मे सेवा शुश्रूषा आदि न करके, उनके मरने के बाद अपनी कीर्ति और मान के लिए श्राद्ध आदि पितृ कर्म के बड़े-बड़े आडम्बर करना तथा उनकी चिता समाधि आदि पर बडे बडे मकबरे बना कर उनको पूजना और मृतकों को याद करते रहना—यह देवपूजन नहीं, किन्तु प्रेत और भूतपूजन है।

द्विज—ब्राह्मण-पूजन

मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले, अन्दर बाहिर से पवित्र रहने वाले, तपस्वी अर्थात् गी० अ० १७ श्लोक १४ से १७ तक में वर्णित मन, वाणी और शरीर से सात्विक तप करने वाले, क्षमाशील, सरल स्वभाव वाले, ज्ञानी (आत्म ज्ञानी), विज्ञानी (सासारिक पदार्थों तथा व्यवहारों का विशेष ज्ञान रखने वाले) और आस्तिक अर्थात् आत्मा=परमात्मा को सर्वव्यापक मान कर साम्य भाव से

ससार के व्यवहार करके निरन्तर लोक-हित में लगे रहने वाले ब्राह्मणों का आदर-सत्कार, भरण-पोषण, सेवा-शुश्रूषा आदि करना—यह सच्ची ब्राह्मण-पूजा है। परन्तु उपरोक्त गुणों के बिना ही केवल ब्राह्मण के घर में जन्म लेने ही से ब्राह्मण मान कर अन्धविश्वास से उनको खिलाना-पिलाना, सेवा-शुश्रूषा करना तथा दान देना, उनकी आज्ञा मानना अथवा अपने मरे हुए सम्बन्धियों के पास भोग्य सामग्री पहुँचाने के मिथ्या विश्वास से उनको पदार्थ देना तथा अपने इस लोक और परलोक के फल की इच्छा से उनका पूजन करना—यह ब्राह्मण-पूजन नहीं, किन्तु ब्राह्मणों की अवज्ञा है। जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है, वहाँ दु ख, मृत्यु और भय के सिवाय और कुछ नहीं होता।

प्राज्ञ—बुद्धिमानों का पूजन

विशेष बुद्धिमान व्यक्ति—चाहे वे पुरुष हों या स्त्री अथवा वे किसी भी वर्ण या जाति के हों—जिनकी बुद्धि की विचक्षणता से लोगों का हित होता हो, उनका आदर-सत्कार, सेवा-शुश्रूषा करना तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना—यह सच्ची प्राज्ञ पूजा है। परन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति अपनी विचक्षणता का दुरुपयोग करके लोगों को हानि पहुँचाते हों, या कष्ट देते हों ऐसे बुद्धिमानो

का आदर-सत्कार, सेवा शुश्रूषा करना तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना—यह मिथ्या प्राज्ञ-पूजा है।

सत्सङ्ग

श्रेष्ठ आचरणों वाले ज्ञानवान, बुद्धिमान तथा विद्वान व्यक्तियों के तथा जिनमें दैवी सम्पद की अधिकता हो, ऐसे सात्विक व्यवहार करने वाले सज्जनों के साथ रहना, ऐसे सज्जनो के समाज में तथा सम्मेलनो में समय-समय पर सम्मिलित होना, जहाँ आत्मा=परमात्मा के सच्चे ज्ञान, सद्विद्याओं तथा सात्विक व्यवहारों की कथा या उपदेश होते हों वहाँ जाना और उन उपदशो को धारण करके उनके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करना—यह सच्चा सत्सङ्ग है। परन्तु लोगो में सत्सङ्गी कहला कर सत्कार, मान, पूजा प्राप्त करने तथा इसके द्वारा लोगों को ठगने अथवा और किसी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि करने के दम्भयुक्त भावों से उपरोक्त श्रेष्ठ पुरुषों के साथ रहना अथवा ऐसे सज्जनो की सभा, समाज, सम्मेलनों तथा कथा उपदेशों में जाना और वहाँ जाकर कोई सद्गुण धारण न करके, केवल वाद विवाद करना अथवा उनमें छिद्र ढूँढने का प्रयत्न करना—यह सत्सङ्ग नहीं, किन्तु दम्भ है।

स्वाध्याय

ज्ञान-वृद्धि तथा बुद्धि तीक्ष्ण करने के लिए वेद-शास्त्रों तथा अन्य प्राचीन एवं नवीन अनेक प्रकार की विद्याओं तथा भाषाओं का पठन पाठन करके उनका लोकहित के लिए उपयोग एवं प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय है। परन्तु केवल ग्रन्थों को रट कर कण्ठ कर लेना अथवा अनेक ग्रन्थ पढ़ते ही जाना और बुद्धि से उसका कुछ भी उपयोग न करना अर्थात् बुद्धि को ग्रन्थों के गिरवी रख कर केवल शास्त्रों के कीड़े बन जाना अथवा शास्त्रों की केवल प्रक्रियाओं को याद करके वाद-विवाद करना, पढ़ी हुई विद्या के वास्तविक तत्त्व की तरफ बुद्धि को न लगा कर उनके सूखे कलेवर ही का अध्ययन करके बहुत शास्त्रों के ज्ञाता—पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय नहीं किन्तु मूर्खता है।

जप और ध्यान

समष्टि आत्मा=परमात्मा में जुड़ने के लिए उसके अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सदा एकरस रहने वाले, अनादि, अनन्त, नित्य, निर्मल, अद्वितीय भाव का तथा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का बार बार चिन्तन करना, उस स्वरूप के द्योतक "ॐ" एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते रहना और परमात्मा के इस स्वरूप में मन को निर-

न्तर जोड़ना, यदि ऐसे स्वरूप के चिन्तन आदि में पहिले मन न लग सके तो प्रारम्भिक अवस्था में इस स्वरूप पर लक्ष्य रखते हुए उसके द्योतक किसी नाम का चिन्तन और उच्चारण करना तथा उस स्वरूप के द्योतक किसी रूप पर ध्यान लगाना—यह सचा जप और ध्यान है। परन्तु परमात्मा के उपरोक्त भाव तथा स्वरूप पर लक्ष्य रक्खे बिना केवल किसी नाम के जप की माला फेरते रहने में तथा किसी भौतिक रूप पर मन को लगाए रखने में समय और शक्ति का अपव्यय करना—यह मिथ्या जप और ध्यान है। नाम और रूप चाहे कितने ही सुन्दर और उच्च कोटि के क्यों न प्रतीत हों, वस्तुत वे कल्पित माया के खेल ही हैं। इनका जप और ध्यान प्रारम्भिक अवस्था में केवल मन को एकाग्र करने की आदत डालने मात्र के लिए करना ठीक है, पीछे इनको छोड़ कर समष्टि आत्मा परमात्मा के उपरोक्त सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थिति करनी चाहिए और नाम तथा रूप से छुटकारा पाए बिना उस स्वरूप में स्थिति हो नहीं सकती—अत नाम और रूप को ही सब कुछ मान कर सर्वदा उन्हीं में निमग्न रहना—मनुष्य-देह के अमूल्य समय को निरर्थक गँवाना है।

परोपकार—लोकहित

आधिभौतिक और आधिदैविक विषमता के कारण ही

प्राणियों को अनेक प्रकार के क्लेश होते हैं और वे समता के उपचार से शान्त होते हैं। जिस तरह वात, पित, कफ आदि दोषों की विषमता से शरीर में जो भूख-प्यास तथा नाना भाँति के रोगादि होते हैं, वे उन विषम दोषों को सम करने की चिकित्सा से शान्त होते हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि महाभूतो की विषमता से अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, महामारी, दावानल, भूकम्प आदि भौतिक उपद्रवों से लोगों को जो अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, वे भौतिक समता के उपचार से शान्त होते हैं, और भेद बुद्धि जन्य मानसिक विषमता से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, भय आदि विकार उत्पन्न होकर उनसे जो अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश होते हैं, वे सर्व-भूतात्मैक्य ज्ञान के उपदेशादि से मन को साम्यभाव में स्थित करने अर्थात् शम से शान्त होते हैं। इस तरह समता के उपचार से लोगों के आधिभौतिक और आधिदैविक क्लेश मिटाना—सच्चा परोपकार अथवा लोकहित है। परन्तु इसके विपरीत परोपकार या लोकहित के नाम से लोगों में उलटी विषमता उत्पन्न करने वाले उपचार करना—जिस तरह जिनकी सादगी से रहने की आदत हो अर्थात् जो मोटा खाते, मोटा पहनते और सब शारीरिक विषयादिकों में सयम रखते हों तथा जिनकी आवश्यकताएँ इतनी कम हो कि उनकी पूर्ति के लिए उन्हें परावलम्बी न बनना पड़े, उनके लए राजसी भोग्य पदार्थ सुलभ करने द्वारा भोग विलास में

उनको प्रीति उत्पन्न करके उनको विषयी एवं अध्याश बनाने की विषमता उत्पन्न करना और उन भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए परावलम्बी बनाना अथवा एक तरफ तो लोगों को अपनी अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार विहारों में प्रवृत्त करके शारीरिक विषमता उत्पन्न कर, रोगी बनाना और दूसरी तरफ उनकी चिकित्सा आदि के बड़े-बड़े आयोजन करके, लोगों को उन पर निर्भर रख कर, पूरे परावलम्बी और उद्यम-हीन [illegible] तरह मानसिक विकार मिटाने के नाम [illegible] के [illegible] एवं उपदेश देकर, [illegible] लोकहित [illegible] ।

दूसरी
आशा

अनुचित धर्म हो कि दूसरों से धन छीनने का प्रयत्न करना पड़े तथा दूसरों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी होने में बाधा पड़े तथा सट्टे, फाटके, जुए जैसे धन्धे न करना कि जिनसे कुछ भी लोक-सेवा हुए बिना ही द्रव्य प्राप्त होने के भाव रहें—यह सच्चा अस्तेय है। परन्तु पूर्व कर्मों के फल से पैतृक सम्पत्ति आदि बिना परिश्रम किए तथा बिना दूसरों के हक़ छीने, प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को त्याज्य मान कर छोड़ बैठना अथवा अपने कर्त्तव्य कर्म यथावत् करने पर उसके पुरस्कार में जो द्रव्यादि तथा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति हो उसको यह समझ कर छोड़ देना कि ये पदार्थ किसी दूसरे के परिश्रम से उत्पन्न हुए हैं, इन पर मेरा हक़ नहीं है—यह मिथ्या अस्तेय है।

तेज

किसी से दब कर आत्मा के विरुद्ध, कोई अनुचित काम न करना तथा अपने कर्त्तव्य को न छोड़ना, जो अपने मातहत हों उनसे उनके कर्त्तव्य-कर्म समुचित रूप से करवाने तथा पत्नी, सन्तान, शिष्य, प्रजा आदि जो अपने संरक्षण में हों उनको विपरीत आचरणों से रोकने के निमित्त उन पर उचित प्रभाव रखना—सच्चा तेज है। परन्तु अपने रोब के अभिमान में दूसरों को अनुचित रूप से दबाना—यह तेज नहीं, अत्याचार है।

कार्य-कुशलता

जो अपने कर्त्तव्य-कर्म और पेशे हों उनके ज्ञान, विज्ञान तथा क्रिया की पूरी जानकारी रख कर अपने-अपने कार्य करने में सब प्रकार से प्रवीण होना—यह सच्ची दक्षता या कार्य-कुशलता है। परन्तु प्रमाद के विषयों में—जिनसे अपने कर्त्तव्य में हानि पहुँचती हो—कुशलता रखना तथा अपने कर्त्तव्यों पर ध्यान न देकर दूसरों के कर्त्तव्यों में कुशलता प्राप्त करने में लगे रहना—यह दक्षता या कार्य-कुशलता नहीं, किन्तु चपलता है।

लज्जा-ग्लानि

अपने कर्त्तव्य के विरुद्ध अनुचित और बुरे काम करने में लज्जा या ग्लानि होना—सच्ची लज्जा या ग्लानि है। परन्तु अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में तथा सात्त्विक (लोक-हित के) व्यवहारों में अज्ञ लोगों की टीका के भय से त्रुटि करना अथवा अपने कर्त्तव्य-कर्मों को नीचे दर्जे का अथवा हीन कोटि का समझ कर उनसे ग्लानि करके उपेक्षा करना—यह लज्जा या ग्लानि नहीं, किन्तु कर्त्तव्य-विमुखता है।

तितिक्षा—सहनशीलता

किसी कारण से शरीर में गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, रोग, आघात आदि किसी प्रकार की पीड़ा उपस्थित हो जाय तो उसको शान्तिपूर्वक सहन करना, मन में क्षोभ

न करना तथा शरीर को इस तरह के कष्ट सहने योग्य बनाना—सच्ची तितिक्षा है। परन्तु मूर्खता से हठ करके शरीर को पीड़ा देते रहना, शीत, ताप, भूख, प्यास आदि से शरीर को कष्ट देना—तितिक्षा नहीं किन्तु दुराग्रह है।

राजसी-तामसी व्यवहार

काम (इच्छा)

दूसरों के हित और स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उन्हें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की इच्छा रखना, केवल अपने शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के लिए ही आधिभौतिक विषय-सुखों तथा मान-कीर्ति आदि की निरन्तर अभिलाषा करते रहना और इन विषय सुखों के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य, उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही आसक्त रहना—यह काम का राजस-तामस स्वरूप है। इस तरह के व्यक्तिगत स्वार्थ की कामना से दूसरों से भिन्न अपने व्यक्तित्व के द्वैत भाव की दृढ़ता होती है और सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव प्राप्त होने में यह काम ही सब से अधिक बाधक है। सब सुखों का भण्डार तो स्वयं अपना आप अर्थात् आत्मा है, इसी के प्रतिबिम्ब से विषयादिकों में सुखों का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अतः आत्मा से भिन्न नाशवान् भौतिक पदार्थों में सुख मान कर उनकी कामना करते रहने से पतन होता है। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों और विषय भोगों की अभिलाषाओं से ऊँचे उठने की सदिच्छा रखना, सर्वोत्तम साम्य भाव में स्थित होने की अभिलाषा करना, समष्टि

आत्मा-परमात्मा के साथ अपनी एकता के अनुभव करने की लालसा रखना तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाए बिना तथा किसी का अहित किए बिना—सबके साथ एकता का प्रेम भाव रखते हुए—लोक-संग्रह के लिए, मर्यादानुसार जो कामोपभोग, बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो जायँ उनको अनासक्त बुद्धि से, चित्त की शान्ति भङ्ग किए बिना भोगना—यह सात्त्विक काम है। जगत का व्यवहार यथावत चलाने के लिए काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।

—गी० अ० ७-१०

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म के विरुद्ध न जाने वाला भूत प्राणियों में काम भी मैं हूँ अर्थात् जिस काम से भूत प्राणियों का अहित न होता हो वह—लोक-संग्रह के विरुद्ध न जाने वाला—काम भी परमात्मा की जगत् को धारण करने वाली एक विभूति है।

क्रोध

अपने को किसी से हानि या दुःख पहुँचने या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा लगने या किसी से अपना अपमान होने आदि के अनुमान से अथवा अपने मन के अनुकूल कोई कार्य न होने से क्रोध का आवेश उत्पन्न कर चित्त को क्षुब्ध करना और अनेकता की विषम

राजसी-तामसी व्यवहार

काम (इच्छा)

दूसरों के हित और स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उनमें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की इच्छा रखना, केवल अपने शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के लिए ही आधिभौतिक विषय-सुखों तथा मान-कीर्ति आदि की निरन्तर अभिलाषा करते रहना और इन विषय सुखों के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य, उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग म ही आसक्त रहना—यह काम का राजस-तामस स्वरूप है। इस तरह के व्यक्तिगत स्वार्थ की कामना से दूसरों से भिन्न अपने व्यक्तित्व के द्वैत भाव की दृढ़ता होती है और सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव प्राप्त होने में यह काम ही सब से अधिक बाधक है। सब सुखों का भण्डार तो स्वय अपना आप अर्थात् आत्मा है, इसी के प्रतिबिम्ब से विषयादिकों में सुखों का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अत आत्मा से भिन्न नाशवान भौतिक पदार्थों मे सुख मान कर उनकी कामना करते रहने से पतन होता है। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों और विषय भोगों की अभिलाषाओं से ऊँचे उठने की सदिच्छा रखना, सर्वोत्तम साम्य भाव मे स्थित होने की अभिलाषा करना, समष्टि

आत्मा-परमात्मा के साथ अपनी एकता के अनुभव करने की लालसा रखना तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाए बिना तथा किसी का अहित किए बिना—सबके साथ एकता का प्रेम भाव रखते हुए—लोक-सग्रह के लिए, मर्यादानुसार जो कामोपभोग, बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो जायँ उनको अनासक्त बुद्धि से, चित्त की शान्ति भङ्ग किए बिना भोगना—यह सात्विक काम है। जगत का व्यवहार यथावत चलाने के लिए काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।

—गी० अ० ७-१०

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म के विरुद्ध न जाने वाला भूत प्राणियों में काम भी मैं हूँ अर्थात् जिस काम से भूत प्राणियों का अहित न होता हो वह—लोक-सग्रह के विरुद्ध न जाने वाला—काम भी परमात्मा की जगत् को धारण करने वाली एक विभूति है।

क्रोध

अपने को किसी से हानि या दु ख पहुँचने या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा लगने या किसी से अपना अपमान होने आदि के अनुमान से अथवा अपने मन के अनुकूल कोई कार्य न होने से क्रोध का उत्पन्न कर चित्त को क्षुब्ध करना और अनेकता की

बुद्धि से उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले को बदले में दुःख या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु क्रोध को अपने अधीन करके मूर्ख, अज्ञानियों तथा कुमार्ग गामियों को सुधारने और अपने अधीन व्यक्तियों को कर्त्तव्य-विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका उपयोग करना, अज्ञानी तथा बालक किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करें तो उनको क्रोध दिखा कर डाँट देना और किसी दुराचारी का दुराचार छुड़ाने के लिए क्रोध के उपयोग से उसको धमका देना—यह सात्विक क्रोध है।

ऐसे अवसरों पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु क्रोध करना आवश्यक हो जाता है। उसके न करने से अनर्थ और लोगों का अहित होता है—क्योंकि रजोगुणी-तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते हैं। अत उनके तथा दूसरों के हित के लिए प्रेम-भाव से ऐसे अवसरों पर उन पर क्रोध करना चाहिए। जैसे अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से क्रोध किया जाता है, वास्तव में वह क्रोध नहीं, प्रेम होता है, उसी तरह दूसरों को सुधारने के लिए एकता के भाव से उनको ताड़ना देनी चाहिए, परन्तु ऐसा करने में क्रोध से अपने मन को तपाना नहीं चाहिए और न उसके वश में होकर क्रोध करने की आदत ही डालनी चाहिए।

लोभ—तृष्णा—कृपणता

सांसारिक पदार्थों में—आत्मा से भिन्न—सुख समझ कर, अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए, उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक पदार्थों का येन-केन प्रकार से संग्रह करने में तन मन से लगे रहना और संग्रह किए हुए पदार्थों का अपने तथा दूसरों के हित के लिए एवं आवश्यक कामों में त्याग न करना—यह लोभ, तृष्णा, कृपणता का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु आत्म-ज्ञान-प्राप्ति की तृष्णा करना, संसार से प्रेम, सबकी भलाई और अपना कर्त्तव्य पालन करने में सन्तोष न करना तथा लोकहित के कामों में उपयोग करने के लिए पदार्थों का संग्रह करना और अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभादि का सात्विक स्वरूप है।

शोक—चिन्ता—पश्चात्ताप

गए हुए तथा अप्राप्त सांसारिक धनादि पदार्थों, कुटुम्बियों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा विषय-सुखों का चिन्तन करके उनके लिए शोक करना तथा उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनकी चिन्ता ही करते रहना तथा उनके बिछुड़ने पर या हानि होने पर अपनी मूर्खता, असावधानी आदि कारणों के

बुद्धि से उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले को बदले में दुःख या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु क्रोध को अपने अधीन करके मूर्ख, अज्ञानियों तथा कुमार्ग-गामियों को सुधारने और अपने अधीन व्यक्तियों को कर्त्तव्य-विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका उपयोग करना, अज्ञानी तथा बालक किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करे तो उनको क्रोध दिखा कर डाँट देना और किसी दुराचारी का दुराचार छुड़ाने के लिए क्रोध के उपयोग से उसको धमका देना—यह सात्विक क्रोध है।

ऐसे अवसरों पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु क्रोध करना आवश्यक हो जाता है। उसके न करने से अनर्थ और लोगों का अहित होता है—क्योंकि रजोगुणी-तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते हैं। अत उनके तथा दूसरों के हित के लिए प्रेम-भाव से ऐसे अवसरों पर उन पर क्रोध करना चाहिए। जैसे अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से क्रोध किया जाता है, वास्तव में वह क्रोध नहीं, प्रम होता है, उसी तरह दूसरों को सुधारने के लिए एकता के भाव से उनकी ताड़ना देनी चाहिए, परन्तु ऐसा करने में क्रोध से अपने मन को तपाना नहीं चाहिए और न उसके वश में होकर क्रोध करने की आदत ही डालनी चाहिए।

लोभ—तृष्णा—कृपणता

सांसारिक पदार्थों में—आत्मा से भिन्न—सुख समझ कर, अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए, उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक पदार्थों का येन-केन प्रकार से संग्रह करने में तन मन से लगे रहना और संग्रह किए हुए पदार्थों का अपने तथा दूसरों के हित के लिए एवं आवश्यक कामों में त्याग न करना—यह लोभ, तृष्णा, कृपणता का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु आत्म-ज्ञान प्राप्ति की तृष्णा करना, संसार से प्रेम, सबकी भलाई और अपना कर्त्तव्य पालन करने में सन्तोष न करना तथा लोकहित के कामों में उपयोग करने के लिए पदार्थों का संग्रह करना और अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभादि का सात्विक स्वरूप है।

शोक—चिन्ता—पश्चात्ताप

गए हुए तथा अप्राप्त सांसारिक धनादि पदार्थों, कुटुम्बियों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा विषय-सुखों का चिन्तन करके उनके लिए शोक करना तथा उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनकी चिन्ता ही करते रहना तथा उनके बिछुड़ने पर या हानि होने पर अपनी मूर्खता, असावधानी आदि कारणों के

लिए पश्चात्ताप करते रहना और उस शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि में डूब कर अपने कर्त्तव्य कर्मों को भूल जाना अथवा उनमे त्रुटि करना—शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर प्रयत्न करते रहना, अपने भीतर आत्म विमुख करने वाले रजोगुणी-तमोगुणी भावों से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके उनको सुधारने में यत्नशील रहना तथा अपने किए हुए अनर्थों, असावधानियों तथा त्रुटियों का पश्चात्ताप करके पुन उनके न करने के लिए सावधान रहना—यह सब शोकादि का सात्विक स्वरूप है।

मोह-ममता

सासारिक पदार्थों ही को सत्य मान कर, उनमें ममता बढा कर, उनके लिए अपने असली आप=आत्मा को भूल जाना शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के मोह मे फँस कर अनर्थ करना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य या सात्विकी बुद्धि से निर्णय न करके अन्धविश्वास में पड़ कर अपने कर्त्तव्यों को भूल जाना—यह मोह ममता का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु अपने कर्त्तव्य के अनुसार जिन सासारिक सम्बन्धियों, पदार्थों या व्यवहारो का भार अपने ऊपर हो अथवा जो व्यवहार स्वयम् स्वीकार किए हों उन—अपनी जिम्मे-

दारी में आए हुए—सम्बन्धियों एव पदार्थों के प्रति अपना कर्त्तव्य स्नेहपूर्वक अच्छी तरह पालन करना और अपने आश्रितों का प्रेमपूर्वक भरण-पोषण, रक्षण-शिक्षण करना, उनके दु खों में स्नेहपूर्वक सहायता करना तथा उनके हित के लिए उद्योग करना—यह मोह-ममता का सात्विक स्वरूप है।

भय

लोगों को अपनी विद्या, बुद्धि, बल, तप, धन, सत्ता और सामर्थ्य का भय दिखा कर दबाना तथा दु ख देना, मिथ्या बातो का भय बता कर लोगों को भुलाना, ठगना तथा मिथ्या ज्ञान की शिक्षा से लोगों को अज्ञान मे रख कर अपने अधीन रखना, अपने कर्त्तव्य पालन करने में तथा सात्विक व्यवहारो और कल्याण के प्रयत्न में रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृति के पुरुषों की निन्दादि का भय करना तथा कल्पित देवी-देवता, भूत प्रेत आदि से डरना या डराना—यह भय का राजस-तामस स्वरूप है। जो दूसरो को भय देते हैं वे स्वय भयभीत रहते हैं, क्योकि आत्मा सब में एक है। परन्तु बुरे कर्मों के करने में सबके आत्मा=परमात्मा का भय करना तथा अपने से अधिक ज्ञानी, बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् आदि विशेष विभूति सम्पन्न व्यक्तियो का भय करके बिना समुचित कारण के उनका सामना न करना—भय का सात्विक स्वरूप है।

राग—प्रीति—आसक्ति

भौतिक पदार्थों में अति प्रीति करके मन को निरन्तर उनमें उलझाए रखना और धन, कुटुम्ब आदि में आसक्त होकर अपने कर्त्तव्यों में त्रुटि करना तथा अपने असली कर्त्तव्य=सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान से विमुख रहना—राग का राजस-तामस स्वरूप है। भेद बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे पदार्थों में द्वेष स्वतः उत्पन्न हो जाता है। परन्तु आत्मज्ञान तथा उसके साधन सात्विक व्यवहारों में राग और एक आत्मा में आसक्ति रखना—राग का सात्विक स्वरूप है।

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होने वाले पदार्थों से तथा अपने से प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियों के साथ अथवा बिना कारण ही किसी को अपने से भिन्न (बेगाना) मान कर उनसे द्वेष करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व गिराने का भाव रखना—यह द्वेष का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु दूसरों से द्वेष कराने वाले अनेकता के भेद भाव को मिटाने के उसका द्वेष करना अर्थात् द्वेष का द्वेष—वस्तुतः द्वेष किन्तु प्रेम-रूप हो जाता है, अतः [illegible] का स्वरूप है।

घृणा—तिरस्कार

किसी को अपने से हीन, तुच्छ मलीन, अपवित्र अधर्मी, पतित या दुराचारी समझ कर उससे घृणा करके उसका तिरस्कार करना और उसे दु ख देने में प्रवृत्त होना—यह घृणा तिरस्कार का राजस-तामस स्वरूप है। जो दूसरों से घृणा तिरस्कार करते हैं, वे स्वय तिरस्कृत होते हैं, क्योंकि सब एक ही आत्मा के अनेक अङ्ग हैं। परन्तु अपने तथा दूसरों के भीतर के रजोगुणी-तमोगुणी आसुरी भावों को हटाने के लिए उन भावों का तिरस्कार करना—यह घृणा का सात्विक स्वरूप है।

ईर्षा

किसी के वैभव, सुख, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, मान, कीर्ति, गुण, विद्या, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य आदि को देख कर जलना और उस जलन से उसको हानि पहुँचाने या नीचा दिखाने का प्रयत्न करना—यह ईर्षा का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु श्रेष्ठ पुरुषों के सद्गुण तथा सात्विक आचरण देख कर चित्त में जलन उत्पन्न किए बिना उनका अनुकरण करके उनके सदृश बनने की स्पर्धा करना—ईर्षा का सात्विक स्वरूप है।

मान—अहङ्कार

अपनी जाति, मर्यादा, प्रतिष्ठा, धन, पद, सत्ता, ऐश्वर्य,

बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, रूप, यौवन आदि भौतिक शरीर की उपाधियों का घमण्ड करना, स्वयं अपने को श्रेष्ठ, धनी और कुलीन समझ कर दूसरों को तुच्छ और नीच समझना और अपने कृत्यों की प्रशंसा में फूले रहना—यह मान-अहङ्कार का राजस-तामस स्वरूप है। दूसरों को तुच्छ जानने वाला अभिमानी स्वयं तुच्छ होता है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। परन्तु तुच्छ सांसारिक सुखों के लिए रजोगुणी-तमोगुणी पुरुषों के सामने दीनता न करने का आत्म गौरव रखना, स्वावलम्बी होना तथा अपनी परिस्थिति में मग्न रहना, किसी से डर कर या दब कर अपने कर्त्तव्य कर्म से न हटना—यह मान का सात्विक स्वरूप है और अपने को पञ्चभौतिक शरीर के अन्दर रहने वाला उसका आधार-भूत शुद्ध आत्मा समझना सात्विक अहङ्कार है।

दम्भ—पाखण्ड

छल-कपट कर लोगों को धोखा देना, पाखण्ड और अशुद्ध व्यवहार से किसी को ठगना, अन्दर से एक बात और ऊपर से दूसरी बात कर वञ्चना करना अथवा भुलावा देना—यह दम्भ का राजस-तामस स्वरूप है। दूसरों को ठगने वाला स्वयं ठगा जाता है—अपने भावों का फल आप ही को प्राप्त होता है। परन्तु दुष्ट, दुराचारियों से अपनी तथा

अपनी रक्षा में आए हुओं की रक्षा करने के लिए दुष्टों से छल का व्यवहार करना आवश्यक तथा न्यायसङ्गत होता है।

द्यूत छलयतामस्मि ।

—गी० अ० १० ३६

अर्थ—छलियों में जुआ मैं हूँ; अर्थात् छल करने वालों को छल से ही जीतने के लिए सब से बड़ा छल जुआ भी मैं परमेश्वर ही हूँ।

यह छल किसी को हानि पहुँचाने की नियत से, द्वेष-भाव से नहीं किया जाता, किन्तु लोगों के तथा स्वय छल करने वालों के हित के लिए प्रेम भाव से किया जाता है। कभी-कभी मूर्खो, बालको और पशुओ को हानि से बचाने के लिए भी छल करना पड़ता है, जैसे कि बालक को औषधि देने के लिए मिश्री दिखाना—यह छल का सात्विक स्वरूप है।

हिंसा—दण्ड

मन, वाणी तथा शरीर से उचित कारण के बिना किसी को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाना अथवा किसी की वृत्ति में बाधा देना—हिंसा का राजस तामस स्वरूप है। परन्तु परिणाम के बड़े सुख या बड़े लाभ पहुँचाने के भाव से अथवा बड़ी हिंसा रोकने के लिए एक बार थोड़ी देर के लिए

किसी को कष्ट दिया जाय या थोड़ी हिंसा की जाय तो वह हिंसा नहीं, दया है। जिस तरह फोड़ा मिटाने के लिए चिरा देने की पीड़ा करना, भयानक रोग से बचाने के लिए टीका देना, अजीर्ण के बीमार का भोजन छीन लेना इत्यादि। इसी तरह कभी ऐसे अवसर आते हैं कि उच्चकोटि के जीवों की रक्षा के लिए हीनकोटि के जीवों को मारना आवश्यक हो जाता है। जैसे कि सिंह या पागल कुत्ते आदि से मनुष्यों के प्राण बचाने के लिए उनको मारना, कोई हत्यारा भले आदमियों की हत्या करने को उद्यत हो और अन्य उपायों से निवृत्त न हो तो उन भले आदमियों की प्राण-रक्षा के लिए हत्यारे को मार देना अथवा किसी हत्यारे को प्राण-दण्ड देकर अनेक हत्याएँ बचाना—यह हिंसा का सात्विक स्वरूप है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—गी० अ० ४ ८

अर्थ—भले आदमियों की रक्षा तथा दुराचारियों के विनाश के हेतु तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग युग में अवतार लेता हूँ।

इसी तरह चोर, डाकू, अन्यायी, आततायी, दुराचारी को उचित दण्ड देना भी हिंसा नहीं, किन्तु अहिंसा है

दण्डोदमयतास्मि ।

—गी० अ० १० ३८

अर्थ—शासन करने वालों का दण्ड मैं हूँ अर्थात् दुष्ट प्रकृति के लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए, "दण्ड" भी समष्टि आत्मा परमात्मा की (जगत को धारण करने वाली) एक विभूति है।

संशय

परमात्मा यानी अपने स्वरूप के सत्‌शास्त्रोक्त सत्य ज्ञान में, अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में तथा अपने निश्चय में संशय या शङ्का करते रहना, किसी भी विषय में निश्चयात्मक न होकर सङ्कल्प विकल्प करते रहना—संशय का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु बिना जाँच किए हुए व्यक्तियों के वाक्यों, आचरणों तथा व्यवहारों की सत्यता के विषय में शङ्का करके उनकी अच्छी तरह जाँच करने के बाद निर्णय करना तथा अपनी बुद्धि के उपयोग बिना किसी विषय में निश्चयात्मक न होना—संशय नहीं, किन्तु सावधानी है।

हठ—दुराग्रह

किसी बात अथवा क्रिया को मूढ़ता से पकड़ कर नहीं छोड़ना, उससे अपने तथा दूसरे शरीरों को पीड़ा होती हो अथवा अपनी तथा दूसरों की हानि होती हो तो भी उसे कट्टरता से पकड़े रहना, पतन होने वाले व्यवहारों में अन्ध विश्वास रख कर उन्हें किए ही जाना, देश, काल और

परिस्थिति की आवश्यकतानुसार विचारों तथा व्यवहारों में परिवर्तन न करना, किसी विषय के विचार में युक्ति और न्याय की अवहेलना कर कोरा ज़िद किए जाना तथा भय, शोक और मद के भावों में अन्ध श्रद्धा करके उन पर अत्यन्त आग्रह करना—यह हठ अथवा दुराग्रह का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु सबके साथ एकता के भाव से अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में दृढ़ रहना, अच्छी तरह युक्ति और विचारपूर्वक जो सिद्धान्त स्थिर किए हों उनके विषय में संशय रहित रहना, उनसे विचलित न होना तथा जो काम अच्छी तरह सोच विचार कर करना स्वीकार किया हो, उसे यथाशक्य पूरा करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना—यह हठ और दुराग्रह नहीं, किन्तु सात्विक दृढ़ निश्चय है।



चतुर्थ प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण



उपसंहार



स ग्रन्थ में परतन्त्रता अर्थात् बन्धन से मुक्ति यानी स्वतन्त्रता पाने के उपाय का निरूपण किया गया है और वह उपाय, ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर ही "दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" (दैवी सम्पद् से मोक्ष और आसुरी से बन्धन होता है) का मूल मन्त्र देकर वहीं बता दिया गया है, फिर सारे ग्रन्थ में उसी की व्याख्या की गई है। जगत की अनन्त प्रकार की अनेकता (नानात्व) को सच्ची मान कर, राग-द्वेष के भावयुक्त संसार के व्यवहार करना="आसुरी सम्पदा"—और उक्त नानात्व को झूठा—माया का खेल—जान कर उसके एकत्व भाव को सच्चा जानना और उस सच्चे ज्ञान के आधार पर सबके साथ प्रेम* का व्यवहार करना="दैवी सम्पदा"—श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों से प्रमाणित किया गया है।

---

* प्रेम का खुलासा पीछे तृतीय प्रकरण

यह भी कहा गया है कि केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, किन्तु आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से भी जगत की एकता सची और अनेकता झूठी है। पुस्तक के प्रथम तीन प्रकरणों में उक्त विषय की विस्तृत व्याख्या करके अब उपसंहार में उसका निष्कर्ष दिया जाता है।

यह नाना भाँति का स्थूल (भौतिक) जगत जो प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर हो रहा है अर्थात् जो आँखों से दीखता है, कानों से सुना जाता है, नाक से सूँघा जाता है, जिह्वा से चक्खा जाता है, त्वचा से स्पर्श किया जाता है—वह सब, उन्हीं पञ्चतत्त्वों (अथवा जो अन्य दार्शनिक एवं वैज्ञानिक लोग पाँच से अधिक तत्त्व मानते हैं, उनके मतानुसार उतने तत्त्वों) के सम्मिश्रण का अनन्त प्रकार का बनाव है, अर्थात् जिन पञ्चतत्त्वों का, एक राजा, महाराजा, विद्वान, आचार्य, ज्ञानी, महात्मा का शरीर होता है, उन्हीं का एक छोटे से छोटे व्यक्ति, अछूत, चाण्डाल और पशु पक्षी, वनस्पति आदि का शरीर होता है। स्थावर जङ्गम जितनी सृष्टि है वह सब उन्हीं पञ्चतत्त्वों के सम्मिश्रण का बनाव है और सभी एक दूसरे के उपकारी, उपकार्य हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर (अन्योन्याश्रित) हैं। इसलिए भौतिक (स्थूल) जगत की एकता सच्ची है और इसमें जो अनन्त प्रकार की भिन्नता का बनाव दीखता है, उसका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है—कोई भी वस्तु सदा एक सी नहीं रहती—इसलिए वह

असत् है। किसी भी प्राणी का शरीर लीजिए—गर्भाधान से लेकर ज्यों-ज्यों वह बढता है, उसकी अवस्था प्रति क्षण बदलती रहती है। गर्भ में अनन्त प्रकार के रूप बदलता हुआ, विशेष अवधि मे पूरा शरीर बन कर गर्भ से बाहर आता है और बाहर भी वही परिवर्तन की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। कितने ही परमाणु प्रति क्षण शरीर में से निकलते और कितने ही प्रवेश करते रहते हैं। शनै-शनै बाल्यावस्था से युवावस्था, प्रौढावस्था और फिर वृद्धावस्था हो जाती है। इन अवस्थाओं का परिवर्तन किसी विशेष समय मे ही एकदम नहीं होता, किन्तु प्रति क्षण निरन्तर होता रहता है और घटा-बढी की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। शरीर का विनाश, यद्यपि किसी विशेष समय में एकदम होता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह भी पहले निरन्तर होता रहता है और मरने के समय, उस एकत्र परिवर्तन की प्रतीति एक साथ होती है। इसी तरह स्थावर पदार्थों का भी प्रति क्षण परिवर्तन होता रहता है। वनस्पति (वृक्ष-लता आदि) किसी विशेष समय में एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही हैं, किन्तु उनके बढने घटने की क्रिया प्रति क्षण निरन्तर जारी रहती है। खनिज पदार्थ—हीरा, पन्ना, माणिक, मोती, सोना, चाँदी, पत्थर, मट्टी आदि—भी निरन्तर परिवर्तन की क्रिया में से गुजरते हुए अपने अपने प्रकृत रूप में आते हैं और फिर भी उनका परिवर्तन एव वृद्धि, ह्रास जारी रहता है। काल

(समय) का भी निरन्तर परिवर्तन होता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक तथा शाम से लेकर सुबह तक, समय निरन्तर बदलता रहता है। इसी तरह ऋतु भी प्रति क्षण बदलती रहती है। सुबह के सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान में दुपहर का कड़ा धूप एकदम नहीं आ जाता और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अन्धकार भी हठात् पृथ्वी मण्डल को आच्छादित नहीं कर लेता, न जाड़े की सर्दी सहसा ग्रीष्म में परिणत होती है, किन्तु सभी परिवर्तन प्रति क्षण निरन्तर होता रहता है। इसी तरह वस्तु और काल के साथ-साथ देश का भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसके अतिरिक्त देश-काल और वस्तु यानी संसार का कोई भी पदार्थ सबको सदा एक-सा प्रतीत भी नहीं होता। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह भान होती है, किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में अनुकूल प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती है। दिनचरों को सूर्य्य प्रकाश रूप दीखता है—निशाचरों को अन्धकार रूप, सूखे में वृष्टि सुहावनी लगती है—अति-वृष्टि के समय वर्षा भयानक प्रतीत होती है, भारत वर्ष में ग्रीष्मऋतु में सूर्य्य का तेज असह्य होता है—विलायत में सूर्य्य के दर्शन को लोग तरसते हैं, प्यास से मरते हुए

को जल जीवनदाता है—जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता है, सुख शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता है—अशान्ति और विपत्ति के समय उसको छोड़ भागना हितकर प्रतीत होता है, सुख का दीर्घ काल भी बहुत अल्प मालूम देता है—दुःख का एक क्षण भी वर्ष के बराबर भान होता है, धन धान्य आदि का संग्रह एवं सत्ता तथा मान-प्रतिष्ठा शान्ति के समय एवं योग्य व्यक्तियों के पास हो तो सुखदायक होते हैं—विप्लव के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पास वे ही महान् दुखदायक होते हैं, सदाचारी व्यक्तियों की विद्या सबको लाभदायक होती है—दुराचारियों की विद्या से सबको हानि होती है, पुत्र-हीन गृहस्थी पुत्र जन्म पर बड़ा हर्ष मानता है—विधवा स्त्री गर्भ में ही उसे मार डालना चाहती है, पतिव्रता स्त्री पति को और स्नेह करने वाला पति पत्नी को एवं सुपुत्र पिता को प्यारा लगता है—इनके विपरीत गुणों वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते हैं, सर्दी में जो गर्म कपड़े तथा गर्म आहार-विहार अच्छे लगते हैं—गर्मी में वे ही बुरे प्रतीत होते हैं, भूखे को भोजन बहुत स्वादु लगता है—अघाए हुए को उससे ग्लानि होती है, तेज अग्नि वाले को युक्ति से खाने पर दूध, घृतादि पौष्टिक पदार्थ बलवर्द्धक होते हैं—मन्दाग्नि की दशा में अथवा अयुक्ति से खाने पर रोग उत्पन्न करते हैं, मनुष्य के लिए आक विष है—वही बकरी को

खुराक है, मनुष्य को शहद मीठी लगती है—कुत्ते को कड़वी, हिन्दू लोग गङ्गा स्नान से पुण्य मानते हैं—जैनी पाप, हिन्दू मूर्ति-पूजा और गोरक्षा धर्म मानते हैं—मुसलमान मूर्ति तोड़ना और गोहिंसा धर्म मानते हैं, भारतवासी स्त्रियों को पद्दलित रखना हितकर समझते हैं—पश्चिमी लोग उनको पूरी स्वतन्त्र रखना श्रेयस्कर मानते हैं, भारतवर्ष में पुरुष का स्त्री को विवाह कर अपने घर ले जाना श्रेष्ठाचार है—बर्मा मे स्त्री का पुरुष को विवाह कर अपने घर लाने की रिवाज अच्छी गिनी जाती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत का कोई भी व्यवहार सदा-सर्वदा एकसा नहीं रहता। अत जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है—एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहती—उसके किस रूप को सच्चा माना जाय। सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर विन्दु भी तो होना चाहिए। किन्तु जगत के नाना भाँति के बनाव मे ज़रा भी स्थिरता (स्थिर विन्दु) नहीं है—इसलिए वह सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु एकत्व भाव में, जगत अवश्य ही सत्य है, क्योंकि उसका अस्तित्व (होना) प्रत्यक्ष है, उसमे हलचल (चेतनता) प्रत्यक्ष है और वह प्यारा (सुहावना) भी लगता है—इसलिए अस्ति भाति प्रिय रूप से सदा एकसा रहने वाले एकत्व भाव में यह स्थूल जगत सत् है और प्रति क्षण बदलने वाले नानात्व भाव में असत्।

अब सूक्ष्म आधिदैविक दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो भौतिक जगत के मूल तत्त्व अपने सूक्ष्म भाव में घनी भूत होकर ही स्थूल बनते हैं और सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के संयोग के तारतम्यानुसार अनन्त प्रकार के दृश्य उत्पन्न करते हैं, साथ ही प्राणियों के अन्त करण की सूक्ष्म वृत्तियाँ, अपनी घनता से स्थूल होकर, उक्त तीनों गुणों के तारतम्य से, जगत के उपरोक्त नाना प्रकार के दृश्यों के साथ सम्बन्धित होकर भाँति भाँति के व्यवहार करती हैं। साराश यह कि स्थूल जगत का कारण सूक्ष्म जगत है। किसी भी घटना अथवा कार्य्य का पहिले (सूक्ष्म) मन में सङ्कल्प उठता है और वह सङ्कल्प जब दृढ होकर घनीभूत हो जाता है, तब कार्य्य रूप में परिणत होता है। मन में जब देखने का सङ्कल्प उठता है तो वह तेजात्मक होकर चक्षु रूप से नाना प्रकार के रूप देखता है, सुनने का सङ्कल्प उठता है तो आकाशात्मक होकर कर्ण रूप से शब्द सुनता है; सूँघने का सङ्कल्प उठता है तब पृथ्व्यात्मक होकर नासिका रूप से गन्ध लेता है, रसास्वादन का सङ्कल्प उठता है तो जलात्मक होकर रसना रूप से सब रसों का स्वाद लेता है और स्पर्श करने का सङ्कल्प उठता है तो वाय्वात्मक होकर त्वचा रूप से सब प्रकार के स्पर्श करता है। एक तरफ तो (सबके) समष्टि मन के सङ्कल्प से सूक्ष्म पञ्चतत्त्व स्थूल होकर समष्टि जगत के सब पदार्थ रूप बनते हैं और

ख़ुराक है, मनुष्य को शहद मीठी लगती है—कुत्ते को कड़वी, हिन्दू लोग गङ्गा स्नान से पुण्य मानते हैं—जैनी पाप, हिन्दू मूर्ति पूजा और गोरक्षा धर्म मानते हैं—मुसलमान मूर्ति तोड़ना और गोहिंसा धर्म मानते हैं, भारतवासी स्त्रियों को पददलित रखना हितकर समझते हैं—पश्चिमी लोग उनको पूरी स्वतन्त्र रखना श्रेयस्कर मानते हैं, भारतवर्ष में पुरुष का स्त्री को विवाह कर अपने घर ले जाना श्रेष्ठाचार है—बर्मा में स्त्री का पुरुष को विवाह कर अपने घर लाने की रिवाज अच्छी गिनी जाती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत का कोई भी व्यवहार सदा सर्वदा एकसा नहीं रहता। अत जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है—एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहती—उसके किस रूप को सच्चा माना जाय। सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर विन्दु भी तो होना चाहिए। किन्तु जगत के नाना भाँति के बनाव में ज़रा भी स्थिरता (स्थिर विन्दु) नहीं है—इसलिए वह सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु एकत्व भाव में, जगत अवश्य ही सत्य है, क्योंकि उसका अस्तित्व (होना) प्रत्यक्ष है, उसमें हलचल (चेतनता) प्रत्यक्ष है और वह प्यारा (सुहावना) भी लगता है—इसलिए अस्ति भाति प्रिय रूप से सदा एकसा रहने वाले एकत्व भाव में यह स्थूल जगत सत् है और प्रति क्षण बदलने वाले नानात्व भाव में असत्।

अब सूक्ष्म आधिदैविक दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो भौतिक जगत के मूल तत्त्व अपने सूक्ष्म भाव में घनीभूत होकर ही स्थूल बनते हैं और सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के सयोग के तारतम्यानुसार अनन्त प्रकार के दृश्य उत्पन्न करते हैं, साथ ही प्राणियों के अन्त करण की सूक्ष्म वृत्तियाँ, अपनी घनता से स्थूल होकर, उक्त तीनों गुणों के तारतम्य से, जगत के उपरोक्त नाना प्रकार के दृश्यो के साथ सम्बन्धित होकर भाँति भाँति के व्यवहार करती हैं। साराश यह कि स्थूल जगत का कारण सूक्ष्म जगत है। किसी भी घटना अथवा कार्य्य का पहिले (सूक्ष्म) मन में सङ्कल्प उठता है और वह सङ्कल्प जब दृढ होकर घनीभूत हो जाता है, तब कार्य्य-रूप में परिणत होता है। मन में जब देखने का सङ्कल्प उठता है तो वह तेजात्मक होकर चक्षु रूप से नाना प्रकार के रूप देखता है, सुनने का सङ्कल्प उठता है तो आकाशात्मक होकर कर्ण रूप से शब्द सुनता है, सूँघने का सङ्कल्प उठता है तब पृथ्व्यात्मक होकर नासिका रूप से गन्ध लेता है, रसास्वादन का सङ्कल्प उठता है तो जलात्मक होकर रसना रूप से सब रसों का स्वाद लेता है और स्पर्श करने का सङ्कल्प उठता है तो वाय्वात्मक होकर त्वचा रूप से सब प्रकार के स्पर्श करता है। एक तरफ तो (सबके) समष्टि मन के सङ्कल्प से सूक्ष्म पञ्चतत्त्व स्थूल होकर समष्टि जगत के सब पदार्थ रूप बनते हैं और

दूसरी तरफ प्रत्येक शरीरधारी के व्यष्टि मन के सङ्कल्प से सक्त पञ्चतत्त्व ही व्यष्टि भाव से इन्द्रिय रूप होकर जगत के पदार्थों के साथ सब प्रकार के व्यवहार करते हैं। अत स्थूल आधिभौतिक जगत की सत्ता सूक्ष्म आधिदैविक जगत पर ही निर्भर है। परन्तु सूक्ष्म आधिदैविक जगत का नानात्व भी परिवर्तनशील है अर्थात् वह मन का सङ्कल्प रूप होने से प्रतिन्क्षण निरन्तर बदलता रहता है, क्योंकि मन के सङ्कल्प एक क्षण भी इकसार स्थिर नहीं रहते, किन्तु क्षण क्षण में उठते और लय होते रहते हैं, अत सूक्ष्म जगत का नानात्व भी झूठा है। परन्तु चित्त जब एकाग्र होता है तब सब सङ्कल्प मिट जाने पर भी एकाग्रावस्था का अस्तित्व, उसका अनुभव और उसका आनन्द समान रूप से सब में रहता है, अत सूक्ष्म जगत की भी एकता सच्ची है।

उपरोक्त विषय का प्रत्यक्ष अनुभव नित्य-प्रति—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (स्वप्न रहित गाढ़ निद्रा) की अवस्थाओं में—सब लोगों को होता रहता है। जाग्रत अवस्था मे स्थूल शरीर से स्थूल व्यवहार होते हैं, स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म=सङ्कल्पमय शरीर से केवल मानसिक व्यवहार होते हैं और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) की अवस्था में जाग्रत और स्वप्न (स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों) के व्यवहार अपने कारण=प्रकृति में लय होकर कारण (बीज) रूप से रहते हैं और फिर उसी कारण=प्रकृति से पुन इनका प्रादुर्भाव होता

है। जिस तरह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति—तीन अवस्थाएँ प्रति दिन सबको अनुभव होती हैं, उसी तरह मनुष्य शरीर की आयु में भी उक्त तीनों अवस्थाएँ होती हैं। प्रत्येक शरीर अपनी उत्पत्ति से पहिले बीज रूप से पिता-माता के गर्भ में सुषुप्त अवस्था में रहता है, फिर शैशव में मनोराज्य की स्वप्न अवस्था में से होकर स्थूल जगत का अनुभव करने वाली बाल, युवा एवं वृद्धावस्था रूपी जाग्रत को क्रमश प्राप्त करता है और शरीर के नाश होने पर उक्त स्थूल (जाग्रत) और सूक्ष्म (स्वप्न मनोराज्य की अवस्था) दोनों सुषुप्ति (कारण) में लय हो जाते हैं और समय पाकर जब मन के सङ्कल्प उद्भव होते हैं, तब फिर सुषुप्ति (कारण) से स्वप्न (सूक्ष्म) और जाग्रत (स्थूल) निकल आते हैं। इसी तरह यह स्थूल और सूक्ष्म जगत भी अपने कारण रूप प्रकृति से उत्पन्न होता है और पीछे प्रकृति में ही लय हो जाता है। साराश यह कि जाग्रत=स्थूल का आधार स्वप्न=सूक्ष्म है और जाग्रत=स्थूल और स्वप्न=सूक्ष्म दोनों का आधार सुषुप्ति=कारण है। जाग्रत=स्थूल मे, स्वप्न=सूक्ष्म अवस्था यानी मन के सङ्कल्प और सुषुप्ति=कारण अवस्था यानी प्रकृति, दोनों बनी रहती है और स्वप्न=सूक्ष्म अवस्था में सुषुप्ति=कारण यानी प्राकृत अवस्था बनी रहती है और जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का अनुभव करने वाला अपना आप (आत्मा) सब अव-

स्थाओं में इकसार रहता है। जाग्रत अवस्था में जो अपना आप "मैं" रूप से सब स्थूल व्यवहार करता है वही अपना आप स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म मानसिक व्यवहार करता है और जब जागता है, तब अपने स्वप्न के अनुभव स्मरण करता है। सुषुप्ति अवस्था में वही अपना आप गाढ़ निद्रा का आनन्द लेता है और जब जागता है तब अपनी सुषुप्ति के आनन्द, और कुछ भी न जानने रूपी अज्ञान, का स्मरण करता है। यद्यपि शरीर की जाग्रत (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म) और सुषुप्ति (कारण)—तीनों अवस्थाओं की भिन्नता बदलती रहती है, परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में एकता रूप अपना आप यानी सत चित् आनन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, अज, अविनाशी आत्मा सदा एकरस रहता हुआ सबका अनुभव करता रहता है। जिस तरह व्यष्टि शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं, उसी तरह समष्टि जगत की भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन अवस्थाएँ हैं और जो सत चित आनन्द-स्वरूप आत्मा व्यष्टि शरीर में सदा इकसार रहता है, वही समष्टि जगत की तीनों अवस्थाओं में भी सदा इकसार बना रहता है और साथ ही साथ वह इन अवस्थाओं से परे अर्थात् इनसे अलिप्त रहता है। जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में सफ़ेद पर्दा सबका आधार होता है—उस सफ़ेद पर्दे पर पहिले अँधेरे का प्रतिबिम्ब पड़ता है और फिर उस अँधेरे के बीच में एक गोल प्रकाश पड़ता है और उस गोल

प्रकाश में नाना प्रकार के दृश्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी तरह एक शुद्ध स्वरूप आत्मा में पहिले उसकी चित्त-शक्ति अर्थात् प्रकृति (माया) के आवरण की सुषुप्त अवस्था आती है, फिर उस सुषुप्ति में मानसिक सङ्कल्प रूपी स्वप्नावस्था का गोल प्रकाश पड़ता है और उस स्वप्नावस्था रूपी प्रकाश में नाना भाँति के स्थूल जगत का बनाव बनता है। जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में उस अन्धकार, प्रकाश और नाना भाँति के दृश्यों का आधार जो सफेद पर्दा होता है वह एक और सत्य होता है तथा उस पर भाँति-भाँति के जो प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वे सब मिथ्या दिखाव मात्र होते हैं, उन दिखावों से पर्दे का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, उन नाना प्रकार के दृश्यों के दिखाई देते समय, उससे पहिले तथा पीछे वह ज्यों का त्यों निर्लेप बना रहता है, उसी तरह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण सबका आधार—अपना आप अर्थात् आत्मा—एक है तथा सदा एकरस रहने वाला एवं सत्य है और स्थूल, सूक्ष्म व कारण—तीनों अवस्थाओं के भिन्न भिन्न परिवर्तनशील, कल्पित एवं मिथ्या बनावों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह सदा निर्लेप रहता है।

जगत की एकता अर्थात् नाना भाँति के नाम रूपात्मक बनाव में जो एकत्व भाव है वही आत्मा=परमात्मा अथवा ईश्वर है और उस एकता रूपी ईश्वर में किसी प्रकार का

क्लेश, बन्धन व पराधीनता आदि नहीं है, किन्तु वह पूर्ण सुख स्वरूप, सदा स्वतन्त्र अर्थात् मुक्त है। उस एकता रूपी ईश्वर को सब जगत में निरन्तर एक समान व्यापक देखते हुए, अपने व्यक्तित्व को उसमें जोड़ कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को उसके अर्पण करके अर्थात् सारे जगत से अपनी एकता करके तथा अपने स्वार्थों को सबके स्वार्थों के अन्तर्गत करके, सबके साथ प्रेम* पूर्वक समता* का व्यवहार करने से कोई क्लेश, बन्धन या पराधीनता शेष नहीं रहती।

इसलिए संसार में जितने भूतप्राणी हैं, उनसे अपनी एकता का अनुभव करते हुए, समत्व* भाव से सबके साथ, उनके प्राकृतिक गुण तथा अपने अपने सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य प्रेम* का व्यवहार करना चाहिए। चाहे कोई व्यक्ति किसी भी मजहब, धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत का अनुयायी हो, किसी भी देश का निवासी हो, किसी भी जाति या समाज का हो अथवा किसी भी परिस्थिति में हो—यहाँ तक कि ब्रह्मा आदि देवता एवं पृथ्वी के सम्राट से लेकर पशु, पक्षी, वनस्पति आदि ही क्यों न हो—सब से एकता का अनुभव करते हुए, उनके प्राकृत गुणों की योग्यता तथा परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य साम्य* भाव से प्रेम * का व्यवहार करना चाहिए। किसी

*प्रेम व समता का खुलासा पीछे तृतीय प्रकरण में देखिए।

के साथ भी राग *, द्वेष *, घृणा *, तिरस्कार * का भाव नहीं रखना चाहिए। परन्तु यह प्रेमयुक्त ममता का व्यवहार, एकता रूप ईश्वर के लिए होना चाहिए, पृथकता रूप पिशाच के लिए नहीं। अर्थात् जो सात्विक प्रकृति के लोग, एकता रूप ईश्वर के उपासक हों, उनके साथ सतोगुणी बर्ताव द्वारा सहयोग करना और उनके सात्विक आचरणों में सहायक होना चाहिए और जो राजस-तामस प्रकृति के लोग पृथकता (भेद बुद्धि) रूपी पिशाच के दास बन कर संसार के लोगों के प्रति राग-द्वेष आदि भावों के कारण एकता रूपी ईश्वर से विमुख रहते हैं— उनको पृथकता (भेद-बुद्धि) रूपी पिशाच से छुड़ाने के लिए—उनसे उनके प्राकृत गुणों के अनुकूल व्यवहार करना चाहिए। इस तरह व्यवहार करने से किसी व्यक्ति को मानसिक अथवा शारीरिक व्यथा हो अथवा किसी की आर्थिक हानि हो अथवा किसी का प्रिय पदार्थों से वियोग हो जाय अथवा किसी का शरीर भी चला जाय तो कुछ भी परवाह न करनी चाहिए अर्थात् उपेक्षा कर देनी चाहिए, परन्तु इस बात का हरदम ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा करते समय अपने चित्त में कभी एकता के प्रेमयुक्त साम्य भाव का अभाव न हो। अपने शरीर के रोगी अङ्ग

* राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

को स्वस्थ बनाने के लिए जिस तरह काट-छाँट, पुल्टिस, सिकताव, मरहम-पट्टी आदि का उपचार किया जाता है, उसी तरह भेद-बुद्धि रूपी रोग-ग्रस्त व्यक्तियों को एकता रूपी आरोग्यता प्राप्त कराने के लिए—उनके हित के उद्देश्य से—उनसे उनके उपयुक्त बर्ताव करना चाहिए, द्वेष तथा घृणा के भाव से नहीं। जिन लोगों के चित्त में एकता के प्रेम भाव की दृढ़ता नहीं हो गई हो अर्थात् जिन्होंने अपने व्यक्तित्व की एवं व्यक्तिगत स्वार्थों की दूसरों के साथ एकता न कर दी हो एवं जिनका हृदय राग, द्वेष तथा घृणा के भावों से दूषित बना हुआ हो, उनको—दूसरों के राजस-तामस भाव छुड़ाने के लिए—किसी को शारीरिक कष्ट देने तथा किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का कोई अधिकार नहीं है। उन्हें पहिले अपने भाव शुद्ध करने चाहिए। जो धार्मिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सिद्धान्त अथवा नियम, सर्वत्र एकता के समत्व भाव के विरुद्ध, राग द्वेष से भेदोत्पादक विषमता उत्पन्न करने का समर्थन करते हों—वे चाहे कितने ही प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हों—उनकी अवहेलना कर देनी चाहिए।

कोई सतोगुण प्रधान व्यक्ति या समाज अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण ऊँचे दर्जे के कर्म करे और उनके फलस्वरूप ऊँचे दर्जे के भोग भोगे, तथा रज तम प्रधान व्यक्ति या समाज अपने उक्त गुणों के कारण नीची श्रेणी के कर्म

करे और उनके फल-स्वरूप निम्न श्रेणी के भोग भोगे, तो आपस मे एक दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार अथवा ईर्षा-द्वेष के भाव रखने का कोई कारण नहीं है अर्थात् ऊँचे दर्जे क कर्म करने और भोग भोगने वालों को निम्न श्रेणी वालों से घृणा और तिरस्कार न करना चाहिए तथा निम्न-श्रेणी वालो को उच्च श्रेणी वालों से ईर्षा-द्वेष न करना चाहिए, क्योंकि गुणों के अनुसार कर्म करना और भोग भोगना ही सच्ची समता है। निम्न श्रेणी वाले लोगों को उच्च श्रेणी वालों से मैत्री का बर्ताव करना और उच्च श्रेणी वालो को निम्न श्रेणी वालो के प्रति करुणा और अनुग्रह का बर्ताव करना चाहिए। (आपस के भिन्न भिन्न प्रकार के प्रेम के बर्ताव का विस्तृत खुलासा इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण मे देखिए।) वास्तव में कर्म और भोग स्वयं ऊँचे-नीचे अथवा अच्छे-बुरे नहीं होते, किन्तु सभी अपने अपने स्थान में एक समान आवश्यक और आपस में एक-दूसरे के एक समान उपकारी हैं। सभी एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। बडे-छोटे सभी एक दूसरे के भोक्ता भोग्य हैं—चाहे वे किसी जाति, वर्ण, समाज व देश के हो। यदि स्त्री पुरुष की दासी है तो पुरुष स्त्री का गुलाम है, पुत्र पिता का आज्ञाकारी है तो पिता पुत्र का टहलुआ है, शिष्य गुरु का अनुचर है तो गुरु शिष्य का सेवक है, सेवक [illegible] का दास है तो स्वामी सेवक के वशवर्ती है

और प्रजा राजा की भक्त है तो राजा प्रजा का नौकर है। अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी एक दूसरे की सेवा पर निर्भर रहते हैं, अतः एक दूसरे के सेवक सेव्य हैं। किसान स्वयं अपनी तथा दूसरों की अन्न की आवश्यकता पूरी करता है, परन्तु वस्त्र के लिए उसे जुलाहा के अधीन रहना पड़ता है, औजारों के लिए जुलाहा तथा किसान आदि को सुथार और लुहार के अधीन रहना पड़ता है, चमड़े के सामान के लिए सबको चमार के और सफाई के लिए मेहतर के अधीन रहना पड़ता है। इसी तरह एक ग्राम, नगर, प्रान्त अथवा देश के लोग अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने ही ग्राम, नगर, प्रान्त अथवा देश में पूरी नहीं कर सकते, किन्तु अपनी-अपनी विशेष योग्यतानुसार अपने यहाँ उत्पन्न होने वाले पदार्थों से दूसरे ग्राम, नगर, प्रान्त एवं देश की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए उनके बदले में दूसरों की विशेष योग्यता से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिए उनके अधीन रहते हैं। चाहे वे पदार्थ विद्या और ज्ञान के रूप में हों अथवा विज्ञान, कला, कौशल, मेहनत, मजदूरी के रूप में अथवा संगृहीत पूँजी एवं सैनिक शक्ति की सहायता के रूप में अथवा आवश्यकीय भोग्य सामग्रियों के रूप में हों। साराश यह कि अपनी सारी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ कोई भी व्यक्ति और कोई भी देश स्वयं अपने आप पूरी नहीं कर सकता, किन्तु किसी न किसी

रूप में एक दूसरे का आश्रय लेना ही पड़ता है। जिसकी आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ जितनी अधिक होती हैं, उतना ही अधिक वह दूसरों के अधीन रहता है और जिसकी आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ जितनी कम होती हैं, उतना ही वह कम पराधीन रहता है। परन्तु अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यदि कोई दूसरों की प्राकृतिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को अस्वाभाविक रूप से कुचल कर उनको दबाना या बन्धन में रखना चाहे तो वह स्वयं दबता और बँधता है। रस्सी किसी के हाथ पैर बाँधती है तो वह स्वयं बँधती है, अत्याचारी पुरुष किसी को किसी स्थान में क़ैद करता है तो उसकी पहरेदारी में वह स्वयं क़ैद हो जाता है, सर्प छछुन्दर को अपने मुँह में दबाए रखता है तो वह स्वयं उसके अधीन हो जाता है—यही दशा जगत में सर्वत्र प्रत्यक्ष देखने में आती है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य हुआ करती है।

तात्पर्य यह कि ऊँचा-नीचापन, सुख-दुःख, स्वाधीनता-पराधीनता आदि कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है—ये केवल व्यक्तियों और समाज के मन के भावों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए ऊँचे-नीचे कर्म करने और भोग भोगने तथा स्वाधीनता-पराधीनता के भेद-भाव से, आपस में लड़ना झगड़ना मूर्खता है और इसी से सब ...

होते हैं। सच्चा निरङ्कुश सुख और स्वाधीनता, सबके साथ एकता का प्रेम रखने और अपनी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को कम करके उनको सर्वथा अपने वश में रखने में है।

किसी व्यक्ति या समाज में जब तक सतोगुण की प्रधानता रहती है, तब तक वह राजस-तामस लोगों की अपेक्षा ऊँचा, सुखी और स्वतन्त्र ही रहता है, चाहे राजस-तामस प्रकृति के लोग उससे कितनी ही ईर्षा द्वेष करके लड़ें झगड़ें। और जिनमें रज-तम की प्रधानता होती है वे अपने राजस-तामस भावों के रहते सात्विक लोगों की अपेक्षा नीचे, दुखी और पराधीन ही रहते हैं। योग्यतम लोग ही संसार में (अयोग्य लोगों की अपेक्षा) अधिक टिक सकते हैं और जिनमें सतोगुण की प्रधानता है वे ही योग्यतम हैं। निर्बल सबल की खुराक है, यह प्राकृतिक नियम प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और जिनके हृदय में एकता रूपी ईश्वर का जितना ही अधिक निवास है अर्थात् जिनमें आत्मशक्ति का जितना ही अधिक विकाश है, उतने ही वे अधिक सबल हैं तथा जो एकता रूपी ईश्वर से जितने ही अधिक विमुख हैं अर्थात् जिनमें आत्मबल की जितनी ही कमी है वे उतने ही निर्बल हैं। इसलिए सुख शान्ति-पूर्वक जीवित रहने की इच्छा रखने वालों को सात्विक आचरणों द्वारा एकता रूपी आत्मबल को बढ़ाना चाहिए।

जिस तरह गणित की इकाई (Unit) के योग (एकता से) दहाई बनती है, दहाई के योग से सैकड़ा, सैकड़ा के योग से सहस्र, सहस्र के योग से लक्ष, इसी तरह उत्तरोत्तर योग के बढ़ते-बढ़ते अनन्तता होकर सर्वत्र एकता हो जाती है—एक के योग से अनन्त और अनन्त में एक होता है—उसी तरह अखिल जगत की एकता प्राप्त करने के लिए एक-एक व्यक्ति अपने स्त्री-पुत्रादि नजदीकी सम्बन्ध के व्यक्तियों की एकता के योग से कौटुम्बिक एकता करे, एक एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्बों से एकता में जुड़ कर सामाजिक एकता करे, एक-एक समाज दूसरे समाजों से एकता में जुड़ कर देश की एकता करे और एक-एक देश दूसरे देशों से एकता में जुड़ कर विश्व की एकता करे। इस तरह एकता के योग की बढ़ती हुई क्रिया द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सारे विश्व से एकता करके अनन्तता को प्राप्त हो सकता है अर्थात् परम सुखी और पूर्ण स्वाधीन=जीवन मुक्त हो सकता है।

संसार के सारे लड़ाई झगड़े और नाना प्रकार के क्लेश मिटा कर वास्तविक सुख-शान्ति स्थापित करने एवं सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक मात्र अचूक उपाय यही है।

ॐ तत् सत्

गीता-सार

मिल रहो सबों से यार, मज़ा यही ज़िन्दगानी का ॥ टेक ॥
बडे भाग मानुष देह पाई, राग द्वेष में अगर गँवाई,
लख चौरासी बाच हाल होगा हैरानी का ॥ मिल रहो० ॥१॥
एक ही राम जगत सारी में, पशु पक्षी और नर नारी में।
छोड़ो रस्ता वैर भाव और खेंचा तानी का ॥ मिल रहो० ॥२॥
दुखियों ऊपर दया जो रखता, सुखी जनों को मित्र समझता।
मोद करे मन में सुनके यश हरिजन दानी का ॥ मिल रहो० ॥३॥
खल दुष्टों से करे किनारा, सो होवे भगवत को प्यारा।
समता बुद्धि रखे भला करता सब प्राणी का ॥ मिल रहो० ॥४॥
बोले सत्य वचन प्रिय हित के निर्मल सरल भाव हों चित के।
हिंसा छल अभिमान करे नहीं काम गिलानी का ॥ मिल रहो० ॥५॥
कामक्रोध के रहे न वश में, हर्ष शोक नहीं यश अपयश में।
जीते ममता लोभ चिह्न यह सच्चे ज्ञानी का ॥ मिल रहो० ॥६॥
कर्तव्य समझ कर्म शुभ करना, अहङ्कार का दम नहीं भरना।
जग में रहो निसङ्ग सार भगवत की बानी* का ॥ मिल रहो० ॥७॥
हर दम ध्यान प्रभू का धरिये, सब कुछ उसके अर्पण करिये।
दूर करे दुःख द्वन्द पति लछमी† महारानी का ॥
मिल रहो सबों से यार, मज़ा यही ज़िन्दगानी का ॥८॥

ॐ तत् सत्

---

* श्रीमद्भगवद्गीता † प्रकृति

गीता-सार



मिल रहो सबों से यार, मज़ा यही ज़िन्दगानी का ॥ टेक ॥
बड़े भाग मानुष देह पाई, राग द्वेष में अगर गँवाई,
लख चौरासी बीच हाल होगा हैरानी का ॥ मिल रहो० ॥१॥
एक ही राम जगत सारी में, पशु पक्षी और नर नारी में।
छोड़ो रस्ता वैर भाव और खेंचा-तानी का ॥ मिल रहो० ॥२॥
दुखियों ऊपर दया जो रखता, सुखी जनों को मित्र समझता।
मोद करे मन में सुनके यश हरिजन दानी का ॥ मिल रहो० ॥३॥
खल दुष्टों से करे किनारा, सो होवे भगवत को प्यारा।
समता बुद्धि रखे भला करता सब प्राणी का ॥ मिल रहो० ॥४॥
बोले सत्य वचन प्रिय हित के निर्मल सरल भाव हों चित के।
हिंसा छल अभिमान करे नहीं काम गिलानी का ॥ मिल रहो० ॥५॥
काम-क्रोध के रहे न वश में, हर्ष शोक नहीं यश अपयश में।
जीते ममता लोभ चिह्न यह सच्चे ज्ञानी का ॥ मिल रहो० ॥६॥
करतव समझ कर्म शुभ करना, अहङ्कार का दम नहीं भरना।
जग में रहो निसङ्ग सार भगवत की बानी* का ॥ मिल रहो० ॥७॥
हर दम ध्यान प्रभू का धरिये, सब कुछ उसके अर्पण करिये।
दूर करे दुःख द्वन्द पति लक्ष्मी† महारानी का ॥
मिल रहो सबों से यार, मज़ा यही ज़िन्दगानी का ॥८॥

ॐ तत् सत्

* श्रीमद्भगवद्गीता † प्रकृति